संबोह-सित्तरि

(वैराग्य का अमृत कुंभ)

–: विवेचनकार :–

पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय

रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

संबोह-सित्तरि

(वैराग्य का अमृत कुंभ)

विवेचनकार

परम शासन प्रभावक, महाराष्ट्र देशोद्धारक,
स्व. पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के
शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी, निःस्पृह शिरोमणि
भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के चरम शिष्यरत्न
प्रभावकप्रवचनकार एवं जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

191

प्रकाशक

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

प्रथम आवृत्ति 2000 प्रतियाँ • **दूसरी आवृत्ति** 1000 प्रतियाँ • **मूल्य :** 160/- रु.
दि.30-7-2023 • **विमोचन स्थल :** मुनिसुव्रत स्वामी जैन मंदिर श्वे.मू. जैन संघ, निगडी, (पूना)-411 044. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.*** द्वारा लिखित उपलब्ध 8 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से

बीसवी सदी के महानयोगी, नमस्कार महामंत्र के अजोड साधक, चिंतक एवं अनुप्रेक्षक, अजातशत्रु **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न मरुधर रत्न, गोडवाड के गौरव, सुमधुर प्रवचनकार एवं जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित 191 वीं पुस्तक **'संबोह-सित्तरि' (वैराग्य का अमृत कुंभ)** की **द्वितीय आवृत्ति** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है ।

मरुभूमि की धन्य धरा पर जन्मे, शिक्षित एवं दीक्षित बने पूज्य आचार्य श्री ने अपने 47 वर्ष के संयम पर्याय में हिन्दी भाषी वर्ग को जो हिन्दी साहित्य की भेंट की है, वह बहुत ही अनुमोदनीय एवं प्रशंसनीय है ।

आज से 41 वर्ष पूर्व वि.सं. 2038 में वैशाख शुक्ला चतुर्दशी के शुभ दिन **'वात्सल्य के महासागर'** के रुप में प्रकट हुई वह ज्ञानज्योति आज भारत के कोने-कोने में अपना प्रकाश फैला रही है ।

पूज्य आचार्य श्री ने अपने 5 वर्ष के संयम पर्याय में **मुनि रत्नसेनविजयजी** के रुप में अपने प्राण प्यारे भवोदधि तारक पूज्यपाद पंन्यास प्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** की द्वितीय वार्षिक पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में अपने परमोपकारी गुरुदेवश्री को भावभरी श्रद्धांजलि के रुप में **'वात्सल्य के महासागर'** पुस्तक अर्पण की थी । सचमुच, वह पूज्यश्री की साहित्य-साधना का बीजारोपण था । स्व. पूज्यपाद गुरुदेवश्री की कृपा-वर्षा ने उस बीज की सिंचन किया, उसी के फलस्वरुप क्रमशः वह बीज वटवृक्ष बनता गया । इस प्रकार अपने गुरुदेव श्री की असीम कृपा से पूज्यश्री की साहित्य साधना विविध विषयों को छूने लगी, देखते ही देखते पूज्य श्री की पुस्तके 99 के अंक को छू गई थी ।

योगानुयोग उस समय **पूज्य गणिवर्य श्री रत्नसेनविजयजी म.** पूना से मुंबई पधारे रहे थे । वि.सं. 2060 में पूज्यश्री का चातुर्मास दीपक

ज्योति टॉवर-परेल मुंबई में निर्धारित हुआ था । उस चातुर्मास में पूज्यश्री के प्रथम शिष्य रत्न वयोवृद्ध तपस्वी **मुनिश्री उदयरत्नविजयजी म.सा.** के वर्धमानतप की 100 वीं ओली चल रही थी-उस निमित्त को पाकर **पूज्य गणिवर्य श्री रत्नसेनविजयजी म.** ने अपनी 100 वीं पुस्तक अपने महा उपकारी गुरुदेवश्री के नाम से ही तैयार की, जिसका नाम रखा गया **'बीसवीं सदी के महान योगी'** इस दलदार ग्रंथ के लिए **पूज्य गणिवर्य श्री रत्नसेनविजयजी म.** ने 5 वर्ष तक कडी महेनत की थी । इस ग्रंथ में पूज्यश्री ने अपने गुरुदेव श्री के विस्तृत जीवन-चरित्र के आलेखन के साथ अनेक श्रद्धांजलि लेखों का सुंदर संकलन किया था ।

वि.सं. 2067, पोषवदी-1, दि. 20 Jan. 2011 में आचार्य पदारुढ होने के बाद भी पूज्यश्री का साहित्य यात्रा द्रुत गति से आगे बढ रही है । बहुत ही अल्प समय में पूज्य आचार्यश्री अपनी साहित्य यात्रा के 200 के अंक तक पहुंच गए ।

वि.सं. 2074, माघ शुक्ला त्रयोदशी के शुभ दिन पूज्य आचार्यश्री ने अपने संयम जीवन के 42 वें वर्ष में मंगल प्रवेश निमित्त गोडवाड भवन-बेंगलोर में चार दिन के भव्य समारोह के साथ पूज्यश्री द्वारा आलेखित हिन्दी 200 वीं पुस्तक **'अमृत रस का प्याला'** का भव्य विमोचन दि. 29-1-2018 के दिन संपन्न हुआ था । उसके बाद भी उनकी साहित्य यात्रा निरंतर जारी है, जो अब तक 237 के अंक तक पहुँच गई है ।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास हैं कि पूज्य श्री द्वारा आलेखित प्रस्तुत कृति पाठकों के अन्तर्मन में वैराग्य की ज्योत को प्रज्वलित करने में पूर्णतया सहयोगी बनेगी ।

पुस्तक के अनुरुप प्रस्तावना का आलेखन करनेवाले सिद्धहस्त **लेखक पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय राजरत्नसूरीश्वरजी म.सा.** के भी हम खूब आभारी है, उनकी प्रस्तावना, पुस्तक की गरिमा में और वृद्धि करेगी ।

संबोध का सूर्योदयः
संबोह सित्तरि

लेखक : शासन प्रभावक
स्व. पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय सूर्योदयसूरीश्वरजी म.सा.
के पट्ट प्रभावक सिद्धहस्त लेखक
आचार्य प्रवर श्रीमद् विजय राजरत्नसूरीश्वरजी म.सा.

हर बात में अपनी आप-बडाई करनेवाला पति मध्य रात्रि के समय गाढ निद्रा में था, तभी घर के एक कोने में चोर के घुसने की आवाज सुनाई दी । तभी जागृत बनी पत्नी ने अपने पति को ढंढोलते हुए कहा, `जागो ! जागो ! घर में कोई चोर घुस गया लगता है ।' पत्नी की प्रेरणा से पति जग तो गया, परंतु खूब आलसी होने से सोते हुए बोला, **'तूं शांति से सो जा, मुझे सब पता है । तुझे कुछ भी घबराने की जरुरत नहीं है । मैं उसे ठीक कर दूंगा ।'**

यह सुनकर चोर थोडी देर मौन रहा, फिर थोडी देर बाद आगे बढा और मूल्यवान आभूषणों को लेकर पोटली बांधने लगा ।

पति की लापरवाही से पत्नी गुस्से में आ गई और गुस्से में आकर बोली, **'अरे ! अब तो उठो, उस चोर ने तो पोटली बांध दी है ।'**

पति ने उसी लापरवाही से जवाब दिया, **'तूं क्यों परेशान होती है ? मुझे सब पता है । वह चोर माल लेकर घर से बाहर निकला तो मैं उसके पांव काट दूंगा ।'**

परंतु कुछ ही क्षणों में तो वह चोर सारा सामान लेकर भाग गया । पत्नी गुस्से में आ गई और अपना सिर पछाडते हुए बोली, **'कभी से कह रहे हो, मुझे सब पता है'** धूल पडे तुम्हारी समझ में, वह चोर तो माल लेकर भाग गया है ।

इस मनोरंजक प्रसंग में से हमें दो महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते है ।

(1) यदि खोना न हो तो जागृत रहना चाहिए । जो व्यक्ति सोता रहता हैं, वह सर्वस्व गुमा देता है और जो जागृत रहता हैं, वह आपत्ति में भी सब कुछ बचा देता है ।

हिन्दी में सुप्रसिद्ध कहावत है–

'जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है ।'

(2) दूसरा निर्देश उससे भी महत्त्वपूर्ण है-मात्र शारीरिक दृष्टि से ही जागृत रहना पर्याप्त नहीं है, परंतु प्रमाद के त्यागपूर्वक परिणामलक्षी प्रवृत्ति में तत्पर बनना भी खूब जरुरी है ।

सम्यग् जानकारी के साथ में सम्यक् पुरुषार्थ भी खूब जरुरी है ।

उस मनोरंजक प्रसंग में पति के पास जानकारी थी, परंतु सम्यक् प्रयत्न न होने से आखिर उसे सब कुछ खोना पडा ।

इससे ख्याल आता है कि प्रमाद के त्याग पूर्वक परिणाम के लक्ष्य में प्रवृत्ति को जोडे, वही सम्यग् बोध सच्ची जागृति है ।

शास्त्रकार भगवंतों ने ऐसे सम्यग्बोध के लिए बहुत ही मार्मिक और सार्थक शब्द का प्रयोग किया है, **'संबोध'** । संबोध अर्थात् **भीतरी-जागृति ।** जिसमें प्रमाद के त्याग पूर्वक परिणामलक्षी प्रवृत्ति को प्रेरित करनेवाला सम्यग्बोध दिखाई देता हो ।

अध्यात्म साधना के क्षेत्र में इस संबोध शब्द का खूब महत्त्व है ।

'वैराग्य शतक ग्रंथ' में इस संबोध को पाने के लिए सुंदर प्रेरणा देते हुए कहा है–

'संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।'

भावार्थ : हे जीव ! तू संबोध को प्राप्त कर ! अभी तक संबोध को क्यों नहीं पाता है ? वास्तव में संबोधि खूब दुर्लभ है ।

इस पुस्तक में जिसका विवेचन किया गया है । **'संबोह सित्तरि'** शास्त्र, यह सम्यक् बोध को पाने के लिए रामबाण इलाज की तरह है । ग्रंथ के नाम से ही यह प्रतीत होता है ।

'संबोह सित्तरि' का अर्थ होता है-संबोध को प्रकट करे, ऐसी 70 गाथाएं ।

किन्हीं प्राचीन प्रतों में इस ग्रंथ की 74 गाथाएं भी मिलती हैं । समयांतर से नई नई गाथाओं का प्रक्षेप होने से वर्तमान में 125 गाथाओं का विस्तार दिखाई देता हैं ।

मूलभूत रीति से यह ग्रंथ कोई स्वतंत्र रचना नहीं है, बल्कि विविध प्राचीन ग्रंथों में से सारभूत गाथाओं को संग्रहित कर इसकी रचना की गई है ।

ग्रंथकार महर्षि ने प्रथम गाथा में **'रएमि उद्धारगाहाहिं'** पंक्ति द्वारा स्पष्ट निर्देश किया है । इस ग्रंथ के संकलनकर्ता **पूर्वाचार्य श्रीमान् रत्नशेखरसूरीश्वरजी महाराज** एक उच्चतम विद्वान् और संविग्न महापुरुष थे । उनके द्वारा विरचित **'लघु क्षेत्र समास ग्रंथ, श्राद्ध प्रतिक्रमण' वंदित्तु सूत्र** आदि अनेक ग्रंथों में उनकी विद्वत्ता स्पष्ट दिखाई देती है ।

वे जैसे विद्वान् थे, उसी प्रकार दृढ संयमी भी थे । **'संबोद्ध सित्तरि'** की अनेक गाथाओं में **'शिथिलता का कडा विरोध और संयम का प्रबल आदर'** स्पष्ट दिखाई देता है ।

जिस प्रकार दु:शिक्षित अश्व को चाबुक की मार सहन करनी पडती है, उसी प्रकार दु:शील श्रमणों पर वे शब्दों के चाबुक फिटकारते हुए दिखाई देते है–

वे 11 वीं गाथा में लिखते है–

'जे बंभचेर भट्ठा, पाए पाडंति बंभयारीणं ।
ते हुंति टुंटमुंटा, बोही वि सुदुल्लहा तेसिं ।।'

भावार्थ : ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट दुरात्माएं, ब्रह्मचारी महात्माओं के वंदन लेती है, वे भविष्य में वामन और पंगु बनती है उनके लिए बोधि की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है ।

शिथिल परिणामी साधु पर कितना सख्त फिटकार बतलाया है ।

कभी नासमझी या लापरवाही से आराधना में क्षतियां हो जाती है, तब संकलनकार महर्षि प्रेमभरी हितशिक्षा प्रदान करते हुए भी प्रतीत होते है ।

उदाहरण के रुप में–

'निंदापसंसासु समो, समो य माणावमाणकारीसु ।
सम सयण परयण मणो, सामाइय संगओ जीवो ।।
सामाइयं तु काउं, गिहिकज्जं जो य चिंतए सड्ढो ।
अट्ठवसट्ठोवगओ, निरत्थयं तस्स सामइयं ।।'

भावार्थ : 'सामायिक से संगत जीव निंदा व प्रशंसा में, मान और अपमान करनेवालों के प्रति तथा स्वजन-परजन के विषय में समान भाववाला होता है ।

जो श्रावक सामायिक करके भी घर की चिंता अर्थात् गृहकार्य करता हैं, आर्तध्यान के अधीन होता हैं, उसकी सामायिक निरर्थक है ।'

अपना सामायिक बिगड न जाय, इसके लिए सुंदर अंगुली निर्देश किया है ।

कई गाथाओं में वे मित्र की भांति प्रेरणा करते हुए दिखाई देते है । कहते हैं–

'वरं वाही वरं मच्चू, वरं दारिद्दसंगमो ।
वरं अरण्णवासो अ मा कुमित्ताण संगमो ।।'

भावार्थ : व्याधि, मृत्यु, दरिद्र से संग और अरण्यवास भी श्रेष्ठ है परंतु कुमित्रों के साथ संग करना श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कुमित्रों का संग हमारे जीवन को बूरी तरह से बर्बाद कर देता है ।

स्वाध्याय पुस्तकों का संपादन करते समय आज से ठीक 7 वर्ष पूर्व इस सूत्र का दो तीन बार अक्षरशः स्वाध्याय करने का अवसर मिला, उस समय इन गाथाओं से, गाथागत विषयों से मैं खूब खूब प्रभावित था । उसी समय हृदय में एक संकल्प किया था कि इस ग्रंथ को कंठस्थ करना

ही है । फिर डभोई तीर्थ से मुंबई की ओर विहार यात्रा दरम्यान प्रभात में प्रतिदिन 5 गाथाएं कंठस्थ करने का प्रयत्न कर इस ग्रंथ को कंठस्थ किया था । उसके बाद आज तक जिस किसी सूत्र का सबसे अधिक स्वाध्याय हुआ हो तो इसी ग्रंथ का हुआ हैं, अतः यह ग्रंथ तो मेरा प्रिय ग्रंथ बन गया है ।

इस ग्रंथ पर शब्दार्थ व भावार्थ सहित सरल व सारग्राही हिन्दी विवेचन तैयार किया हैं–विद्वद्वर्य **आचार्य प्रवर श्री विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी महाराज** ने ।

हिन्दी भाषी विराट् जैन जगत् में वे लोकप्रिय साहित्यकार के रुप में प्रसिद्ध है । आज तक उन्होंने 191 पुस्तकों का आलेखन किया हैं, **इससे स्पष्ट होता है कि वे कितने सतत पुरुषार्थी लेखक है । वे शास्त्रज्ञ है, प्रख्यात प्रवचनकार है, विख्यात लेखक हैं, अपने संयम जीवन के स्वीकार के साथ नियमित एकासना व सुदी पंचमी को सम्यग्ज्ञान की आराधना हेतु उपवास कहते है । (बडी बीमारी को छोड) इस प्रकार वे नित्य तपस्वी है ।**

वे अपने गुरुवर्य **स्व. अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के विशिष्ट सान्निध्य को पाए होने से मैत्री आदि भावों से सुवासित भी है । जब जब भी परस्पर मिलन और संयुक्त प्रवचन का प्रसंग बना है, तब तब उनमें इन गुणों का सरस अनुभव भी हुआ है ।

उनकी विद्वत्ता सभर शास्त्र परिकर्मित कलम से आलेखित इस सरल विवेचन के प्रसंगों को देखें ।

गाथा नं. 45 में द्रव्यस्तव की अपेक्षा भावस्तव की विशिष्ट महिमा का प्रतिपादन है, अतः विवेचन में भावस्तव की प्रधानता समुचित हैं, फिर भी विवेचनकार ने **'श्रावक के जीवन में द्रव्यस्तव के प्रति उपेक्षा न आ जाय इस बात को ध्यान में रखकर द्रव्यस्तव की भी महिमा बताते हुए कहा हैं–'**

जिनेश्वर परमात्मा की उत्तम द्रव्यों से पूजा भक्ति करने से श्रावक को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और पूर्व में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई हो तो वह सम्यग् दर्शन निर्मल भी बनता है । प्रभुपूजा में धन का सद्व्यय करने से चारित्र मोहनीय का भी क्षयोपक्षम होता है, परिणाम स्वरुप सर्वविरति चारित्र धर्म की भी प्राप्ति होती है । द्रव्य पूजा में एकेन्द्रिय आदि जीवों की स्वरुप हिंसा होने पर भी गृहस्थ की भूमिका में रही आत्मा के लिए वह लाभ का ही कारण बनती है ।

गाथा नं. 72 में अकारण विगइ सेवन का निषेध बताया है । उसके विवेचन में लेखक सरस उदाहरण बताते है– ***'जिस प्रकार खेत के चारों ओर बाड न हो तो खेत में बोया हुआ या उगा हुआ अनाज सुरक्षित नहीं रहता है, उसी प्रकार रसप्रद आहार का त्याग न हो तो ब्रह्मचर्य का पालन अतिदुष्कर हो जाता है ।'***

विवेचनकारश्री की कलम से वैविध्य सभर उपयोगी सर्जन निरंतर होता रहे, इसी मंगल कामना के साथ उस **'संबोह सित्तरि'** विवेचन से आराधक आत्माओं के जीवन मे भी संबोध का सूर्योदय हो, यही अंतर की अभिलाषा ।

ज्ञान पंचमी पर्व, वि.सं. 2073 **विजय राजरत्नसूरि**

जवाहरनगर जैन संघ,

गोरेगांव (W), मुंबई

विवेचनकार की कलम से....

इस संसार में परिभ्रमण कर रही आत्मा को वैराग्य भाव की प्राप्ति अत्यंत ही दुर्लभ कही है। जीव से भिन्न पौद्गलिक पदार्थों के प्रति हृदय में वैराग्य भाव पैदा हुए बिना जीवन में वास्तविक धर्म की प्राप्ति नहीं होती है।

इसीलिए तो हम प्रतिदिन प्रार्थना सूत्र में वीतराग प्रभु से विविध प्रार्थनाएँ करते हैं, उनमें सबसे पहली प्रार्थना **'भव-निव्वेओ'** की करते हैं।

संसार के भौतिक सुख कितने क्षणिक, नाशवंत एवं लुभावने हैं, उसका सत्यभान हुए बिना वीतराग-प्रभु के द्वारा बताए मार्ग पर सच्ची प्रगति नहीं हो पाती है।

भूतकाल में अनेक महापुरुषों ने अपने वैराग्य भाव को पुष्ट करने के लिए अनेक ग्रंथों का सर्जन किया है।

यद्यपि उपदेशात्मक प्रत्येक ग्रंथ में न्यूनाधिक रूप में वैराग्य भाव को अवश्य पुष्ट किया होता है, फिर भी कई ज्ञात-अज्ञात महापुरुषों ने वैराग्य भाव के पोषण के लिए स्वतंत्र प्रकरण ग्रंथों की रचना की है।

वर्तमान श्रमण समुदाय के उपलब्ध स्वाध्याय ग्रंथों में मुख्यतया तीन प्रकरण वैराग्य पोषक माने जाते हैं।

'वैराग्य शतक, इन्द्रिय पराजय शतक और संबोह सित्तरि' वर्तमान में अधिकांश साधु-साध्वीजी भगवन्त इन तीनों ग्रंथों को कंठस्थ भी करते हैं।

आज से कुछ वर्षों पूर्व **वैराग्य शतक** और **इन्द्रिय पराजय शतक** पर उपलब्ध संस्कृत टीका के आधार पर हिन्दी भाषा में संक्षिप्त विवेचन भी किया था, जो मुमुक्षु आत्माओं के लिए खूब प्रेरक बना है।

कई मुनियों की ओर से मुझे सुझाव था कि **'संबोह सित्तरि' पर भी हिंदी विवेचन तैयार हो तो वह हिंदीभाषी वर्ग के लिए अति उपयोगी बन सकता है ।**

'मुक्ति स्वाध्याय' आदि स्वाध्याय की पुस्तकों में **पूर्वाचार्य श्री रत्नशेखरसूरि** द्वारा संकलित 125 गाथा प्रमाण का **'संबोह सित्तरि'** ग्रंथ विद्यमान है ।

कैलाशसागरसूरि ज्ञान भंडार कोबा से प्राप्त प्रत जो लगभग 90 वर्ष पूर्व छपी है उसमें संबोध सित्तरि की 74 गाथाएँ हैं ।

पू. आचार्य श्री राजशेखरसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा गुजराती भाषा में अनुदित **'संबोध प्रकरण'** ग्रंथ भी उपलब्ध है जिसके रचयिता **पू. हरिभद्रसूरिजी म.** हैं, उस **संबोध-प्रकरण** में 62 लगभग गाथाएँ **'संबोह-सित्तरि'** से मिलती-जुलती हैं ।

इस ग्रंथ में कुछ गाथाएँ **महानिशीथ सूत्र** व **गच्छाचार पयन्ना** की भी दिखाई देती हैं ।

भूतकाल में अनेक महापुरुषों ने स्व-पर के हित के लिए व अपने वैराग्य भाव को पुष्ट करने के लिए पूर्वाचार्य महापुरुषों के द्वारा विरचित ग्रंथों में से उद्धृत कर या संकलित कर बालजीवों के हित के लिए प्रकरण ग्रंथों का निर्माण किया है ।

ग्रंथों में नाम की भिन्नता है, परंतु सभी का उद्देश्य तो स्व-पर के वैराग्य भाव को पुष्ट करना ही है ।

बस, मैंने भी अपने अल्प क्षयोपशमानुसार स्व-पर के वैराग्यभाव को पुष्ट करने के ध्येय से ही संक्षिप्त विवेचन तैयार किया है ।

इस विवेचन में जाने-अनजाने में कहीं भी जिनाज्ञा विरुद्ध आलेखन हुआ हो तो उसके लिए त्रिविध-त्रिविध **'मिच्छा मि दुक्कडम् ।'**

नूतन वर्षारंभ
कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा
वि.सं. 2073
दि. 12-11-2016
नासिक (महाराष्ट्र)

अध्यात्मयोगी
पू.पं.श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी आचार्य रत्नसेनसूरि

जैन जगत् के उज्ज्वल नक्षत्र
प.पू.आ.श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

लेखक : आनंद बी. खतंग, (मंच संचालक) भिवंडी

''महल तो बहुत हैं पर दर्शनीय कोई कोई...
मंदिर तो बहुत हैं पर अर्चनीय कोई कोई...
इस धरा पर परिधान की नहीं, त्याग की पूजा होती हैं...
संत पुरुष तो बहुत हैं, पर वंदनीय कोई कोई...।।''

अहिंसावतार भगवन महावीर के शासन रुपी बाग में अनेक आचार्य भगवंत, उपाध्यायप्रवर एवं साधु साध्वियाँ गुल बनकर इस गुलजार को सुवासित कर रहे हैं । ज्ञान, ध्यान, साधना और आराधना के माध्यम से हजारों संतगण मानव के अशांत मन को शांति का नीर पिला रहे हैं । अनेक व्याख्यानकार, विद्या वाचस्पति, प्रभावी आचार्य एवं वाणी के कुशल धनी साधु भगवंत हिन्दी साहित्य के माध्यम से जिनशासन के ताज का अभिषेक कर रहे हैं । जैन जगत् के ऐसे ही एक उज्ज्वल नक्षत्र का नाम हैं–**परम पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. ।**

आप 18 वर्ष की अल्पायु में दीक्षित होने के बाद ज्ञान की निरंतर सीढियाँ चढते गये और अध्यात्म के आकाश में सूर्य बनकर चमक रहे हैं । हर वक्त ताजगी, मंद मंद मुस्कान और आनंद की किरणे आपके चेहरे पर अठखेलियाँ करती रहती हैं । जैसे चंदन की महक को शब्दों में बांधना मुश्किल होता है, उसे केवल महसुस किया जा सकता है । सागर की तरंगों की आवाज को क्या कोई गायक अपनी रागिनी में बांध सकता है ? क्या कोई कलाकार प्रकृति की छटा को अपनी तुलिका से स्नान कराने में समर्थ हो सकता है ? प्रातः कालीन सूर्योदय की अरुणिमा कितनी आह्लादजनक होती है, क्या इस आनंद की अभिव्यक्ति का वर्णन लेखनी द्वारा किया जा सकता हैं ? पर्वतों की छाती को चीरकर प्रवाहमान झरने का कल कल

निनाद कितना मधुर होता हैं, क्या इस निनाद माधुर्य को शब्दों में बांधा जा सकता हैं ? सप्तरंगी इंद्र धनुष के रंगों को भाषा से परिभाषित किया जा सकता है ? ठीक उसी प्रकार **प.पू.पं.प्र. श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के चरम शिष्य जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को शब्दों से आलेखित नहीं किया जा सकता । आपका सौम्य सरलस्वभाव, मृदुल स्नेहसिक्त-करुणामय-व्यवहार, विवेक एवं अनुशासन की अटल पहिचान को कलम से लिखा जाय इतना इस कलम में दम कहाँ ? आपने जिनशासन की विजयपताका के नीचे मानवता के पुष्प खिलाये हैं, समाज को पथदर्शन किया है, रचनात्मक कार्यो की प्रेरणा दी है और सुंदर राष्ट्रनिर्माण की संरचना में भगीरथ प्रयत्न किया हैं ।

गुरुवर ! आप जैन दिवाकर हो : संयम जीवन के अभी 47 वर्ष भी पूर्ण नहीं हुये हैं और आपके द्वारा आलेखित करीबन 237 पुस्तकें जैन समाज को सुलभ हो गई ।

छोटीसी उम्र में बहुत बड़ी उपलब्धि ! आपकी बेजोड़ साहित्य की लेखनी एवं बेजोड़ उपलब्धियों के लिये हिंदी साहित्य भी आपका ऋणी रहेगा । भिवंडी शहर में आपके द्वारा दिये गये हिन्दी प्रवचनों ने तो शहर की काया ही पलट दी । प्रवचनों के दौरान उच्चरित हिन्दी का शब्दकोष स्वामी विवेकानंद की याद दिलाता है । मुख मुद्रा एवं हावभाव में मुंशी प्रेमचंद का नूर टपकता हैं, तो प्रवचन के बाद की शांतता महात्मा गांधी की याद दिलाती है । आपकी वाणी, विचार, वर्तन और व्यवहार से सभी विस्मित हो जाते हैं । बौद्धिक प्रखरता से ओतप्रोत और आशीर्वाद देते हुए अपने हाथ समर्पित शिष्य के सिर पर रखते हैं तो मानो प्राण पागल हो जाते हैं । घोर अंधकार के थके हारे राही को भी प्रकाश की किरण मिल जाती है ।

``मझधार में किनारा मिल जाता है,
तुफानों में सहारा मिल जाता है...
आशीर्वाद मिलता है जब आपका,
मानो अंधेरे में भी उजाला मिल जाता है...''

संत और सज्जन पुरुषों के 4 गुण बताये गये हैं (1) हँसमुख चेहरा (2) उदार हाथ (3) मृदुभाषण (4) विनम्र व्यवहार । उपरोक्त सभी बाते आचार्य प्रवर के साथ दीक्षा से ही साथ साथ हैं । ऐसे सत्य, निराले, व्यापक वैचारिक चरित्र वाले तथा बौधिक धरातल पर युवाओं के हृदय पर प्रतिष्ठित महात्मा का नाम हैं–**परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. ।**

गुरुवर ! आप पाषाणों में प्राण फूंकते हैं :– आपके प्रवचनों में प्रज्ञा का झरना निरंतर बहता रहता हैं । जिसका स्पर्श पाकर चेतना जाग्रत हो जाती हैं । मानवीय संभावनाओं को नवरुप मिल जाता हैं । आपके प्रवचनों में संत और श्रोता के तार पारस्परिक रुप से जुडे हैं–ऐसा देखा जा सकता हैं । कठोर बात भी इस तरह से कहते है कि श्रोतागणों को कलुषता का आभास भी नहीं होता हैं ।

आपके प्रवचनों से हर वक्त चिंतन की नई आवाज निकलती है । आप मानव मन के सजग प्रहरी है । **अनुशासन आपका परम ध्येय है । प्रमाद आपसे कोसों दूर रहता है ।** संयमी जीवन में भी आपकी कथनी और करनी सदैव एक समान रही है । समय की पाबंदी एवं सदुपयोग अन्य साधुसंतों के लिये एक मिशाल हैं । आपकी अद्वितीय प्रवचन शैली लोगों को भीतर से झकझोर देती है । प्रवचन के मध्य में हास्य के गुढमंत्र भरते रहते है । **'छोटे छोटे वचनों में बडे बडे संदेश'** मानो गागर में सागर भर दिया । **'प्रवचन में बैठना सरल है किंतु प्रवचन को हृदय में बिठाना मुश्किल है ।'** आपका यह कथन सभी ने आत्मसात् कर लिया ।

गुरुवर ! आप सन्मार्ग दर्शक तथा ऊर्जा स्त्रोत्र है :– आप शास्त्रमर्मज्ञ हो । तत्व विवेचक हो । प्रबुद्ध चिंतनशील हो । आपने शास्त्रसागर का चिरमंथन किया है । आपका साहित्य अनुभुतियों का दर्पण है, जिसमें जीवन की दशा और दिशा सुधारने का अवसर मिलता है । जीवन निर्माण के सफल सूत्रों पर भी आपकी अनेक पुस्तके प्रकाशित हुई है । गुरुदेव बहुभाषी लेखक हैं । हिन्दी, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी में आपकी पुस्तके यथार्थ जीवन का निर्माण करती हैं । आपका हर कदम मानवता की मुस्कराहट है, लोकमंगल का प्रतीक है ।

आपने महावीरवाणी को विश्लेषित करते हुये जैन जीवन शैली, जैन तत्व विवेचन, पूर्ववर्ती आचार्यों के कथानक तथा प्रेरक जैन कहानियाँ आदि विषयों पर भी साहित्य लिखा है। आपका साहित्य बिगडे दिल और बीमार मन का इलाज करता है।

आप भी डॉक्टर हैं मगर एलोपेथी या होम्योपेथी के नहीं, बल्कि सिम्पैथी के डॉक्टर है। आपके साहित्य में वो सरगम है जो हर गम को भुला देता है। आध्यात्मिक राग ऐसा समाया है जिसमें वीतराग जाग्रत होता है। आप आचरण के आचार्य और जागरण के देव है। देश की तरुणाई कहीं भटक न जाये इसके लिये आप हमेशा संस्कारों की शिक्षात्मक विवेचना करते है। युवापीढ़ी को हमेशा ऊर्ध्वगति की ओर आगे बढने का संदेश देते है।

हे वात्सल्य वारिधि ! आपका जीवन ज्ञान, दर्शन और चारित्र की ऐसी पावन त्रिवेणी है जो पाप, ताप और संताप का नाश करती है। आपके चरण ही नहीं, आचरण भी पूज्य है। जीवन बगिया के उपरोक्त आदर्शों के लिये आप जैन संत ही नहीं जन संत हो गये है।

''कल्पना को शक्ल दिया है अपने,
मेरे जीवन को संबल दिया है आपने,
जिंदगी के घोर अंधेरे को,
रोशनी में बदल दिया है आपने।''

हे ! वात्सल्य के महासागर ! आपका जीवन केवल पठनीय एवं दर्शनीय नहीं, बल्कि अनुकरणीय है। आपके सुगंधमय व्यक्तित्व की सुरभियाँ पृथ्वी की अंतिम सीमाओं तक फैलती रहे, आपके व्यक्तित्व का आलोक हमारे अंधकारमय मार्गों को उज्ज्वल करता रहे। आपका लोकोपयोगी कृतित्व जन जन के हृदय में धर्म और मानवता की ज्योति जगमगाता रहें, हृदय के इन्हीं शुभ भावों के साथ–

''अंतस् से अभिनंदन हैं, जुग जुग जीएँ आप...
सेवक पर कृपादृष्टि, हमेशा बनी रहे मांई बाप...।।''

नमिऊण तिलोयगुरुं, लोयालोयपयासगं वीरं ।
संबोहसत्तरिमहं, रएमि उद्धारगाहाहिं ।।1।।

शब्दार्थ

नमिऊण–नमस्कार करके,
तिलोयगुरुं–त्रिलोक के गुरु को,
लोयालोय–लोक-अलोक,
पयासगं–प्रकाशित करने वाले,
वीरं–वीर प्रभु को,
संबोहसत्तरिं–संबोध सप्ततिका की,
अहं–मैं,
रएमि–रचना करता हूँ,
उद्धारगाहाहिं–उद्धार गाथाओं से ।

भावार्थ–तीन लोक के गुरु और लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले श्री वीर प्रभु को नमस्कार करके पूर्वाचार्य विरचित गाथाओं से संबोध सप्ततिका नाम के ग्रंथ की रचना करता हूँ ।

विवेचन–किसी भी कार्य की निर्विघ्नतया समाप्ति के लिए कार्य के प्रारंभ में मंगल अवश्य करना चाहिए । ग्रंथ की रचना करना यह भी एक शुभ कार्य है, अतः उसके प्रारंभ में ग्रंथकार **श्री रत्नशेखरसूरिजी म.** भी ग्रंथ की पहली गाथा में मंगलाचरण करते हैं ।

प्रभु का नाम तो मंगल स्वरूप है ही, उनको किया गया नमस्कार तो महामंगल स्वरूप है । ग्रंथकार महर्षि ग्रंथ के प्रारंभ में चरम तीर्थपति देवाधिदेव भगवान महावीर परमात्मा को नमस्कार करते हैं ।

दुनिया में एक नियम है-जो नमस्कार करता है, वह बहुत कुछ प्राप्त करता है । एक गरीब व्यक्ति धनवान को नमस्कार करता है । उसे थोड़ा बहुत धन प्राप्त होता है । किसी शक्तिशाली को नमस्कार करते हैं तो आपत्ति में अपना रक्षण होता है । उसी प्रकार गुणवान को नमस्कार करने से हमें गुणों की प्राप्ति होती है ।

भगवान महावीर परमात्मा सभी दोषों से मुक्त और सर्वगुण संपन्न हैं । उनको नमस्कार करने से हमें सद्गुणों की प्राप्ति अवश्य होगी । यद्यपि महावीर प्रभु अनंत गुणों के स्वामी हैं, फिर भी उनके दो विशेषण बता कर उनकी स्तुति करते हैं ।

भगवान महावीर तीन लोक के गुरु हैं । आत्मा में रहे अज्ञान अंधकार को दूर करें, वे गुरु कहलाते हैं । भगवान महावीर परमात्मा तीन लोक के गुरु

हैं । प्रभु के समवसरण में नरक गति के जीवों को छोड़ सभी गति के जीव आते हैं और प्रभु अपनी धर्मदेशना द्वारा उन सभी जीवों को मोक्ष का मार्ग बताते हैं ।

वीर प्रभु ने 12½ वर्ष की कठोर तपश्चर्या व साधना के फलस्वरूप घातिकर्मों का संपूर्ण क्षय किया जिसके फलस्वरूप प्रभु वीतराग और सर्वज्ञ बने हैं ।

अपने केवलज्ञान द्वारा परमात्मा चौदह राजलोक में रहे हुए धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के तथा अलोक में रहे हुए आकाशास्तिकाय द्रव्य को प्रत्यक्ष देखते हैं और समवसरण में आने वाले जीवों को लोक और अलोक के यथार्थ स्वरूप को समझाते हैं ।

इस प्रकार ग्रंथकार महर्षि ने प्रभु वीर के मुख्य दो विशेषण त्रिलोक-गुरु और लोकालोक-प्रकाशक बताए हैं । ऐसे वीर प्रभु को सद्भाव पूर्वक नमस्कार करके **'संबोध सप्तति'** ग्रंथ का प्रारंभ करते हुए ग्रंथकार महर्षि फरमाते हैं कि यह मेरी स्वतंत्र रचना नहीं है, परंतु भूतकाल में पूर्वाचार्य महर्षियों ने जो वैराग्य-पोषक ग्रंथों की रचना की है, उन रचनाओं में से संकलित करके इस ग्रंथ की रचना की है ।

नमस्कार भी दो प्रकार का होता है, द्रव्य और भाव से । मस्तक झुकाकर और हाथ जोड़कर जो नमस्कार करते हैं उसे द्रव्य नमस्कार कहते हैं और मन के सद्भाव पूर्वक जो नमस्कार किया जाता है, उसे भाव नमस्कार कहते हैं ।

भावपूर्वक किया गया नमस्कार ही महती कर्म-निर्जरा का कारण बनता है ।

अरिहंत परमात्मा को किया गया नमस्कार भाव मंगल को पैदा करता है जिसके फलस्वरूप रत्नत्रयी की आराधना-साधना के मार्ग में आने वाले सभी विघ्न विलीन हो जाते हैं ।

ग्रंथ का सर्जन यह भी सम्यग्ज्ञान की आराधना-उपासना है । अतः उस मार्ग में आनेवाले विघ्नों के नाश के लिए परमोपकारी-आसन्नोपकारी भगवान महावीर प्रभु को नमस्कार किया है ।

सेयंबरो य आसंबरो य, बुद्धो व अहव अन्नो वा ।
समभाव भावियप्पा, लहइ मुक्खं न संदेहो ।।2।।

शब्दार्थ

सेयंबरो–श्वेतांबर,	**समभाव**–समता भाव,
य–तथा,	**भावियप्पा**–भावितात्मा,
आसंबरो–दिगंबर,	**लहइ**–प्राप्त करता है,
बुद्धो–बौद्ध,	**मुक्खं**–मोक्ष,
अहव–अथवा,	**न संदेहो**–शंका नहीं है ।
अन्नो–अन्य,	

भावार्थ–श्वेतांबर हो या दिगंबर, बौद्ध हो या अन्य कोई परंतु जो समता भाव से भावित आत्मा है, वह मोक्ष प्राप्त करता है । इसमें कोई संदेह नहीं है ।

विवेचन–श्वेतांबर अर्थात् श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले जैन साधु ! उपलक्षण से रजोहरण-मुहपत्ति-वस्त्र-पात्र आदि धारण करने वाले श्रमण ।

दिगंबर अर्थात् वस्त्र रहित जैन साधु । बौद्ध अर्थात् महात्मा बुद्ध के अनुयायी बौद्ध भिक्षु, ये सभी बाह्य वेष की अपेक्षा साधु कहलाते हैं अन्य पद से गृहस्थ के परिवेश में रही मरुदेवा माता आदि को ले सकते हैं ।

ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि जो समभाव से भावित आत्मा है वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करती है, इसमें लेश भी संदेह नहीं है ।

ग्रंथकार का तात्पर्य यह है कि बाह्य परिवेश कौन सा है ? यह बहुत महत्त्व की वस्तु नहीं है, परंतु जिसका मन समता भाव से भावित हुआ है, उसका कल्याण संभव है । सम अर्थात् समान भाव । अन्य जीवों को आत्म तुल्य मानना ।

जैसे स्वयं को दुःख पसंद नहीं है, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी दुःख पसंद नहीं है । अतः किसी भी जीव को लेश भी पीड़ा नहीं पहुँचाना यह सामायिक का ही परिणाम कहलाता है ।

सम अर्थात् रागद्वेष के प्रसंगों में माध्यस्थ भाव रखना । राग पैदा हो ऐसा निमित्त मिल जाय तो भी राग नहीं करना और द्वेष का निमित्त मिल जाय तो भी मन में लेश भी द्वेष करना उसे माध्यस्थ्य भाव अर्थात् सामायिक कहते हैं ।

सामायिक अर्थात् ज्ञान-दर्शन और चारित्र की एकता ।

जो आत्मा राग-द्वेष से मुक्त हो जाती है वह आत्मा समस्त घातिकर्मों का क्षय कर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेती है ।

जो आत्मा वीतराग बन जाती है, उस आत्मा का अवश्य मोक्ष होता है ।

राग-द्वेष ही आत्मा के लिए बंधन रूप हैं, जिसने इन दोनों बंधनों को तोड़ दिया है, उसके लिए मोक्ष सहज है ।

मन में यदि राग-द्वेष के भाव उछलते हों तो तप करने से भी क्या फायदा !

जिसने राग-द्वेष को ही जीत लिया है, उसे तप करने की आवश्यकता नहीं है ।

सार यही है कि मोक्ष की प्राप्ति में बाह्य वेष की मुख्यता नहीं है । साधु का बाह्य वेष तो अंतरंग परिणति में सुधार लाने के लिए है ।

आत्मा के समत्व भाव के परिणाम को गौण कर जो बाह्य वेष को अधिक महत्त्व देते हैं, सचमुच, वे मार्ग भूले हैं ।

दुर्लभ ऐसे मानव-जीवन में हमारा प्रयत्न समत्व भाव की प्राप्ति का होना चाहिये, क्योंकि समत्व भाव की पराकाष्ठा मानव भव के सिवाय अन्य किसी भी भव में संभव नहीं है, अतः किनारे आई हुई हमारी नाव कहीं डूब न जाय, इसके लिए प्रतिपल सावधानी खूब जरुरी है ।

अट्ठदस दोसरहिओ, देवो धम्मो य निउणदयसहिओ ।
सुगुरु य बंभयारी, आरंभ-परिग्गहाविरओ ।।3।।

शब्दार्थ

अट्ठदस–अठारह,
दोस–दोष,
रहिओ–रहित,
देवो–अरिहंत देव,
धम्मो–धर्म,
निउणदय–निपुण दया,
सहिओ–सहित,
सुगुरु–सद्गुरु,
बंभयारी–ब्रह्मचारी,
आरंभ–जीवहिंसा,
परिग्गहाविरओ–परिग्रह से विरत ।

भावार्थ–जो अठारह दोषों से रहित हैं, वे देव हैं । जो निपुण दया से युक्त है, वह धर्म है और जो ब्रह्मचारी तथा आरंभ-परिग्रह से रहित है, वे सद्गुरु हैं ।

विवेचन–जैन शासन में देव, गुरु और धर्म के लिए एक संयुक्त शब्द **'तत्त्वत्रयी'** का प्रयोग होता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी **रत्नत्रयी** की आराधना साधना के लिए श्रेष्ठ आलंबनभूत तत्त्वत्रयी है । तत्त्वत्रयी के आधार पर ही इस जगत् में रत्नत्रयी की आराधना रही हुई है ।

प्रस्तुत गाथा में ग्रंथकार महर्षि ने देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या की है । दुनिया में **'देव'** के रूप में तो बहुत से देव प्रसिद्ध हैं, परंतु वास्तव में देव कहलाने के **'लायक'** कौन है ? उसका यथार्थ स्वरूप इस गाथा में बताया है ।

जो अठारह दोषों से रहित हैं, वे ही सच्चे देव हैं ।

अठारह दोष निम्नलिखित है–

(1) दानांतराय (2) लाभांतराय (3) भोगांतराय (4) उपभोगांतराय (5) वीर्यांतराय (6) हास्य (7) रति (8) अरति (9) भय (10) शोक (11) जुगुप्सा (12) काम (13) मिथ्यात्व (14) अज्ञान (15) निद्रा (16) अविरति (17) राग ।

(18) द्वेष ।

चार घाति-कर्मों के क्षय से ही परमात्मा 18 दोषों से मुक्त बनते है ।

– ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से अज्ञान दोष दूर होता है ।

– दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से निद्रा दोष दूर होता है ।

– अंतराय कर्म के क्षय से पांच अंतराय दूर होते है ।

–मोहनीय कर्म के क्षय से शेष 11 दोष दूर होते है ।

श्रेष्ठ दया से युक्त धर्म, सच्चा धर्म कहलाता है ।

यह अहिंसा तो सर्वश्रेष्ठ औषधि समान है ।

दीर्घ आयुष्य, श्रेष्ठ रूप, नीरोगता तथा निर्मल यश को देने वाली यह अहिंसा तो कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिंतामणि रत्न से भी बढ़कर है ।

सोपक्रम आयुष्य कभी भी पूरा हो सकता है । सोपक्रम आयुष्यवाले जीवों का आयुष्य उपक्रम लगते ही समाप्त हो जाता है । **'अपना आयुष्य क्षणभंगुर है'** इस बात को जानकर अहिंसा धर्म के पालन में प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

सूत्रकृतांग आगम में भी कहा है–दान में सर्वश्रेष्ठ अभयदान है ।

सद्गुरु :– प्रस्तुत श्लोक में भवोदधि तारक सद्गुरु के स्वरूप का वर्णन किया है । वीतराग परमात्मा के द्वारा बनाए हुए मोक्षमार्ग पर स्वयं चलते हुए अपने आश्रित एवं शरणागत को भी वही मोक्षमार्ग बताने वाले गुरु कहलाते हैं ।

यद्यपि सद्गुरु के अनेक गुण बताए गये हैं, फिर भी प्रस्तुत गाथा में तीन गुणों पर विशेष भार दिया है । ब्रह्मचारी सद्गुरु असिधारावत् ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं ।

सभी व्रतों में ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ व्रत है । ब्रह्मचर्य से कठिन अन्य कोई व्रत नहीं है । उपवास, आयंबिल, छट्ठ, अट्ठम आदि तप करना आसान है । परंतु ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करना कठिन है ।

वीतराग परमात्मा के शासन में अन्य सभी व्रत-महाव्रतों में अपवाद बताएं हैं, परंतु ब्रह्मचर्य व्रत में किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं बताया है ।

ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करनेवाला कभी झूठ नहीं बोलता है और चोरी नहीं करता है । इस प्रकार ब्रह्मचारी विशेषण के अन्तर्गत झूठ व चोरी के पापों का त्याग भी समाविष्ट हो जाता है ।

आरंभ से विरत–इस पद द्वारा पहले महाव्रत का निर्देश किया गया है । आरंभ अर्थात् जीवों को पीड़ा पहुँचाना । आरंभ पद से संरंभ और समारंभ का भी स्वीकार हो जाता है ।

मन, वचन और काया के तीनों योगों से और करण, करावण और अनुमोदन रूप तीन कारण से हिंसा का त्याग करनेवाले ही सद्गुरु कहलाते हैं ।

परिग्रह से विरत : इस पद द्वारा साधु के पाँचवें अपरिग्रह महाव्रत का निर्देश किया गया है । सद्गुरु वे ही हैं जो धन्न-धान्य आदि नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह और कषाय नोकषाय, मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अभ्यंतर परिग्रह के त्यागी होते हैं ।

इन तीन गुणों से जो युक्त हैं, वे ही सच्चे सद्गुरु हैं, जिनके आलंबन से आत्मा शीघ्र ही भवसागर से पार उतर जाती है ।

नूतन वर्षाभिनंदन

कांटें दीर्घ जीवी है, फूल अल्पजीवी है
कांटे दुःखदायी हैं, फूल सुखदायी हैं–
आओ ! नूतन वर्ष में संकल्प करे, भले ही छोटी,
किंतु फूलों की जिंदगी जीएंगे, कांटों की नहीं !
किसी को सुख देंगे, दुःख नहीं ।
किसी के दुःख में सहभागी बनेंगें,
किसी के सुख को नहीं छीनेंगे ।

अन्नाण कोह मय माण लोह माया रई य अरई य ।
निद्दा सोय अलियवयण, चोरिया मच्छर भया य ।।4।।
पाणिवह पेम कीला, पसंग हासा य जस्स इइ दोसा ।
अट्ठारस वि पणट्ठा नमामि देवाहिदेवं तं ।।5।।

शब्दार्थ

अन्नाण–अज्ञान,
कोह–क्रोध,
मय–मद,
माण–अभिमान,
लोह–लोभ,
माया–कपट,
रई–रति,
य–तथा,
अरई–अरति,
निद्दा–निद्रा,
सोय–शोक,
अलियवयण–झूठा वचन,
चोरिया–चोरी,
मच्छर–मत्सर (ईर्ष्या),
भया–भय,
पाणिवह–हिंसा,
पेम–प्रेम,
कीला–क्रीड़ा,
पसंग–प्रसंग,
हासा–हास्य,
जस्स–जिनको,
इइ–इत्यादि,
दोसा–दोष,
अट्ठारस–अठारह,
वि–भी,
पणट्ठा–नष्ट हो गए,
नमामि–नमस्कार करता हूँ,
देवाहिदेवं–देवाधिदेव को ।

सामान्य अर्थ–अज्ञान, क्रोध, मद, मान, माया, लोभ, रति-अरति, निद्रा, शोक, असत्यवचन, चोरी, मत्सर, भय, हिंसा, प्रेम, क्रीड़ा प्रसंग और हास्य ये अठारह दोष, जिनके नष्ट हो चुके हैं उन देवाधिदेव परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।

विवेचन–प्रस्तुत दो गाथाओं में परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है । जो सर्वगुणसंपन्न हों और सभी प्रकार के दोषों से मुक्त हों, वे ही परमात्मा कहला सकते हैं । यद्यपि दोष तो अनेक हैं, परंतु संक्षेप में उन सभी दोषों का समावेश इन 18 दोषों में किया गया है । इनसे मुक्त आत्मा ही परमात्मा कहलाने के योग्य है ।

देवाधिदेव परमात्मा निम्नलिखित दोषों से मुक्त होते हैं–

1. अज्ञान : ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से आत्मा में अज्ञान दोष पैदा होता है । अज्ञान के मुख्य तीन भेद हैं–

अ. संशय :- यह साँप है या डोरी है ? इस प्रकार एक ही वस्तु में दो विपरीत वस्तुओं के बोध को संशय कहते हैं ।

ब. विपर्यय :- वस्तु के विपरीत बोध को विपर्यय कहते हैं, जैसे जो देव नहीं है उसे देव कहना ।

स. अनध्यवसाय :- 'यह कुछ है' इस प्रकार निश्चय रहित बोध को अनध्यवसाय कहते हैं ।

2. क्रोध :- मोहनीय कर्म के उदय से क्रोध पैदा होता है । किसी के कटु वचन सुनकर गुस्सा आता है । देवाधिदेव परमात्मा मोहनीय कर्म से सर्वथा मुक्त होने से उनमें क्रोध का अभाव होता है ।

3. मद :- ऊँची जाति, उत्तम कुल, सुंदर रूप, तीक्ष्ण बुद्धि तथा ऐश्वर्य आदि सामग्री को प्राप्त कर उसका अभिमान करना और जिसके पास वह सामग्री नहीं है उसका तिरस्कार, अपमान करना ।

4. मान :- झूठा आग्रह रखना । अपनी बात असत्य सिद्ध होने पर भी उसी को सत्य कहने का झूठा आग्रह रखना ।

5. लोभ :- आसक्ति । धन आदि बाह्य पदार्थों में तीव्र आसक्ति होने के कारण ही उन्हें बढ़ाने की कोशिश करना ।

6. माया :- किसी को ठगने के लिए माया करना । मायावी व्यक्ति का दोहरा चरित्र होता है । वह बाहर से अलग दिखता है और भीतर से अलग होता है ।

7. रति :- इष्ट पदार्थों को प्राप्त कर मन में जो खुशी होती है, उसे रति कहते हैं ।

8. अरति :- अनिष्ट पदार्थों को प्राप्त कर मन में जो उद्वेग पैदा होता है, उसे अरति कहते हैं ।

9. निद्रा :- दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जो नींद आती है उसे निद्रा कहते हैं । इसके भी पाँच भेद हैं ।

10. शोक :- इष्ट वस्तु के विरह में मन में जो संताप पैदा होता है, उसे शोक कहते हैं ।

11. असत्य वचन:- अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए झूठ बोलना । मोहनीय कर्म के उदय से व्यक्ति झूठ बोलता है । इसके चार भेद हैं ।

1. भूत निह्नव : विद्यमान वस्तु का निषेध करना । जैसे आत्मा के होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार करना ।

2. असद्भूत उद्भावन : वस्तु का स्वरूप नहीं होने पर भी उसे वैसा कहना, जैसे-आत्मा शरीरव्यापी होने पर भी उसे विश्वव्यापी कहना ।

3. विपरीत भाषण : गाय को गधा कहना ।

4. निंदा : किसी के विद्यमान या अविद्यमान दोष प्रकट करना जैसे- तू तो चोर है ।

12. चोरी : मोहनीय कर्म के उदय से मालिक की अनुमति बिना कोई भी वस्तु लेने का मन होता है ।

13. मत्सर : दूसरे के उत्कर्ष को देखकर मन में जलन पैदा होना ।

14. भय : भय के 7 प्रकार हैं –

1. इहलोक भय : मनुष्य को मनुष्य से भय, वह इहलोक भय कहलाता है ।

2. परलोक भय : मनुष्य को पशु-प्राणी या देवता आदि से भय परलोक भय कहलाता है ।

3. आदान (चोरी) भय : मेरी वस्तु को कोई चुरा तो नहीं लेगा !

4. अकस्मात् भय : बाह्य निमित्त बिना अंधकार आदि में पैदा होने वाला भय ।

5. आजीविका भय : अपना जीवन निर्वाह होगा या नहीं, ऐसा भय ।

6. मृत्यु भय : `मौत आ गई तो' ऐसा भय ।

7. अपयश भय : यदि मैंने यह कार्य किया तो मुझे अपकीर्ति मिल जाएगी ।

15. प्राणिवध : अपने प्राण बचाने के लिए या अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरे जीवों के प्राणों का नाश करना ।

16. प्रेम : किसी भी व्यक्ति या वस्तु के प्रति मन में लगाव पैदा होना उसे प्रेम कहता हैं ।

17. क्रीड़ा प्रसंग : मैथुन का सेवन करना ।

18. हास्य : हँसी-मजाक करना ।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घाती कर्मों के उदय से आत्मा में अज्ञानता आदि अठारह दोष पैदा होते हैं । इन कर्मों का मूल से संपूर्ण क्षय करने वाले अरिहंत परमात्मा में ये दोष नहीं होते हैं । इस कारण वे देवाधिदेव कहलाते हैं ।

सव्वाओ वि नईओ, जह सायरंमि निवडंति ।
तह भगवइ अहिंसं, सव्वे धम्मा सम्मिलंति ।।6।।

शब्दार्थ

सव्वाओ–सभी,	**तह**–उसी प्रकार,
वि–भी,	**भगवइ**–पूज्य,
नईओ–नदियाँ	**अहिंसं**–अहिंसा में,
जह–जिस प्रकार,	**सव्वे धम्मा**–सभी धर्म,
सायरंमि–सागर में,	**सम्मिलंति**–मिलते हैं ।
निवडंति–गिरती हैं,	

भावार्थ–जिस प्रकार सभी नदियाँ सागर में मिलती है उसी प्रकार सभी धर्म पूज्य अहिंसा में मिलते हैं ।

विवेचन–सभी धर्मों का सार अहिंसा है । दान आदि सभी धर्मों का मुख्य ध्येय अहिंसा के पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करना है ।

चौदह राजलोक के अग्रभाग पर रहे हुए सिद्ध भगवंत किसी भी प्राणी की द्रव्य या भाव हिंसा में निमित्त नहीं बनते हैं ।

जैन धर्म में निर्दिष्ट सभी धर्म-आराधनाओं का अंतिम फल तो मोक्ष पद को प्राप्त करना ही है ।

संसारी आत्मा किसी-न-किसी रूप में दूसरे जीवों के दुःख में निमित्त बनती ही है जब कि सिद्ध भगवंत किसी जीव के दुःख में निमित्त नहीं बनते हैं ।

जिस प्रकार सभी नदियाँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बहती हैं, परंतु आखिर तो अंत में महासागर में ही विलीन होती हैं, उसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा में विलीन होते हैं ।

किसी जीव को मारने में तो हिंसा है ही, परंतु झूठ बोलने में भी हिंसा है । क्योंकि हम जिस व्यक्ति के साथ झूठ बोलते हैं उस व्यक्ति को जब सत्य का पता चलता है तो उसे तीव्र दुःख ही होता है । इस तरह झूठ बोलने वाला भी किसी प्रकार से जीव की हिंसा ही कर रहा होता है ।

चोरी में भी हिंसा है । हम जिस व्यक्ति की वस्तु की चोरी करते हैं जब उस व्यक्ति को पता चलता है तो उसे अत्यंत आघात ही लगता है, इस

प्रकार चोरी में भी हिंसा है । मैथुन-सेवन में भी हिंसा है । मैथुन-सेवन में स्त्री की योनि में रहे असंख्य जीवों की हिंसा का पाप लगता है ।

परिग्रह में भी हिंसा है । अपने धन के संग्रह में अन्य जीवों को पीड़ा होती है ।

क्रोध, मान, माया और लोभ के सेवन में भी हिंसा है और उन पापों के त्याग में अहिंसा धर्म की आराधना रही हुई है ।

इस प्रकार अठारह पापों के सेवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिंसा रही हुई है और उन पापों के त्याग में अहिंसा धर्म की आराधना रही हुई है ।

जगत् के सभी जीव हमारे बंधु तुल्य हैं, अतः उन जीवों की हिंसा में अपने बंधु का ही नाश है ।

अन्य जीवों के रक्षण के लिए हमारा जो प्रत्यत्न होता है, उसके द्वारा हम आत्मा का ही हित करते है, अतः अहिंसा धर्म के पालन के लिए हमारा प्रयत्न होना चाहिये ।

ज्ञानदीप

आत्मा में रहे अज्ञान और मोह के गाढ अंधकार
को दूर करने के लिए आज के महामंगलकारी दिन
आत्मा में सम्यग्ज्ञान का दीप जलाएं !
श्रुतज्ञान की आराधना-उपासना और
आशातना के त्याग द्वारा आत्मा में केवलज्ञान की
ज्योति जला सकते है ।

ससरीरे वि निरीहा, बज्झाब्भिंतर परिग्गह विमुक्का ।
धम्मोवगरणमित्तं धरंति चारित्तरक्खट्ठा ।।7।।
पंचिंदिय दमणपरा जिणुत्त सिद्धंतगहिय परमत्था ।
पंचसमिया तिगुत्ता, सरण मह एरिया गुरुणो ।।8।।

शब्दार्थ

ससरीरे–अपने शरीर पर,
वि–भी,
निरीहा–इच्छा रहित,
बज्झ–बाह्य,
अब्भिंतर–अभ्यंतर,
परिग्गह–परिग्रह,
विमुक्का–रहित,
धम्मोवगरण–धर्म के उपकरण,
मित्तं–मात्र,
धरंति–धारण के लिए,
चारित्त–चारित्र,
रक्खट्ठा–रक्षण के लिए,
पंचिंदिय–पाँच इन्द्रियाँ,
दमणपरा–दमन में तत्पर,
जिणुत्त–जिनेश्वर द्वारा कहे गए,
सिद्धंत–सिद्धांत,
गहिय–ग्रहण किए हैं,
परमत्था–परमार्थ को,
पंचसमिया–पाँच समिति से युक्त,
तिगुत्ता–तीन गुप्ति से गुप्त,
सरणं–शरण,
मह–मुझे,
एरिया–इस प्रकार के,
गुरुणो–गुरु का

भावार्थ–अपने शरीर पर भी निःस्पृही, बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से मुक्त, चारित्र के रक्षण के लिए धर्म के उपकरण को धारण करने वाले पाँच इन्द्रियों के दमन में तत्पर, जिनेश्वर भगवंत के सिद्धांत के रहस्य के ज्ञाता पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त ऐसे गुरु ही मेरे लिए शरण-भूत हैं ।

विवेचन–'सद्गुरुः शरणं मम' । सद्गुरु ही मेरी आत्मा के लिए शरणभूत है । नदी से पार उतरने के लिए नाविक की अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार भवसागर से पार उतरने के लिए सद्गुरु की अपेक्षा रहती है ।

नदी को पार करने के लिए नाविक का होशियार होना खूब जरूरी है । होशियार नाविक क्षेत्र कुशल नदी पार करा देगा-नाविक यदि होशियार नहीं हो तो उसकी नाव कभी भी डूब सकती है, उसी प्रकार भवसागर से पार उतरने के लिए सद्गुरु भी गुणसंपन्न होने जरूरी हैं ।

भव-निस्तारक गुरु में निम्नलिखित गुण होने चाहिए अथवा इन गुणों से संपन्न सद्गुरु ही भवसागर से पार उतारने में समर्थ कहलाते हैं ।

1. देह में निर्मम : मानव देह नौ अशुचि का भंडार है । मानव देह के द्वारों से सतत अशुचि का प्रवाह बहता रहता है, फिर भी आश्चर्य है कि जीवात्मा को सबसे अधिक राग इस देह पर होता है । इस संसार में सबसे अधिक पाप इस देह के पालन-पोषण और रक्षण-संवर्धन के लिए होते हैं ।

देह की ममता के बंधन को तोड़ना सबसे कठिन है ।

सद्गुरु वे कहलाते हैं, जिन्हें देह के ममत्व का बंधन नहीं है ।

2. परिग्रह से मुक्त : परिग्रह के ग्रह ने तीनों जगत् को विडंबित किया है । ऐसे परिग्रह से सद्गुरु भगवन्त सर्वथा मुक्त होते हैं । यह परिग्रह दो प्रकार का है-बाह्य और अभ्यंतर ।

बाह्य परिग्रह : 1. धन, 2. धान्य, 3. क्षेत्र, 4. वास्तु, 5. रुप्य, 6. सुवर्ण, 7. चतुष्पद, 8. द्विपद, 9. कुप्य ।

अभ्यंतर परिग्रह – जो बाहर से दिखाई नहीं देता है ।

परंतु आत्मा के लिए जटिल बंधन रूप है । इसके 14 भेद हैं–

1. मिथ्यात्व : जो देव नहीं है, उसे देव मानना, जो गुरु नहीं है उसे गुरु मानना और जो धर्म नहीं है, उसे धर्म मानना ।

2-4 वेद त्रिक :– 1. पुरुष वेद, 2. स्त्री वेद, 3. नपुंसक वेद ।

5-10. हास्य षट्क

1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. भय, 5. शोक, 6. जुगुप्सा ।

11-14 कषाय चतुष्क : क्रोध आदि चार कषाय ।

क्रोध : सहनशीलता का अभाव । क्रोधावेश में व्यक्ति कोई भी गलत कदम उठा सकता है ।

मान : उत्तम जाति, कुल, रूप, बल, बुद्धि आदि से पैदा होनेवाले अहंकार को मान कहते हैं ।

माया : दूसरे को ठगने के लिए कपटपूर्ण व्यवहार को माया कहते हैं ।

लोभ : जो भी मिला हो, वह कम ही लगे और अधिक से अधिक पाने की लालसा को लोभ कहते हैं ।

बाह्य परिग्रह के संग्रह में हिंसा-झूठ आदि सभी प्रकार के पाप रहे हुए हैं। धन तो सभी अनर्थों का मूल है। निरर्थक क्लेश का कारण है। समझदार और विवेकी व्यक्ति कभी भी धन में लुब्ध नहीं होता है।

धन के अर्जन में दुःख है, अर्जित किए हुए धन के रक्षण में दुःख है। धन आए तो भी दुःख है और जाए तो भी दुःख है, ऐसे दुःख के साधनभूत धन को धिक्कार हो।

धन का अर्थी राजा आदि अनेक की गुलामी करता है, उनका विनय करता है, उनके साथ मीठा व्यवहार करता है, रात-दिन उनके पीछे घूमता है। धन के लिए सभी प्रकार के हल्के कार्य भी करता है। धन के लिए व्यक्ति व्यापार भी करता है, दूसरों को ठगता भी है, ठंडी-गर्मी आदि प्रतिकूलताओं को भी सहन करता है।

धन का अर्थी अनेक के पास प्रार्थना-याचना करता है। अनेक को प्रणाम करता है। कइयों के आगे आजीजी करता है। दुनिया में ऐसा कोई पाप नहीं है, जो धन प्राप्ति के लिए नहीं करता है। इस प्रकार यह बाह्य परिग्रह सभी अनर्थों का मूल बनता है।

मिथ्यात्व आदि अभ्यंतर परिग्रह भी आत्मा के लिए अनर्थकारी हैं। मिथ्यात्व आदि के सेवन से आत्मा अनंत संसारी बनती है। अतः जो सद्गुरु होते हैं, वे बाह्य और अभ्यंतर सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी होते हैं।

3. संयम रक्षार्थ धर्म के उपकरण : संयम धर्म के पालन के लिए संयम के साधनभूत बाह्य उपकरणों की अपेक्षा रहती है। जिन उपकरणों से संयम धर्म का पालन होता है, वे उपकरण परिग्रह नहीं कहलाते हैं। परिग्रह की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थ सूत्रकार ने ठीक ही कहा है-**मूर्च्छा परिग्रहः** पदार्थों पर रही आसक्ति ही परिग्रह है।

संयम धर्म का पालन करने के लिए अनासक्त भाव से संयम के उपकरणों का उपभोग किया जाय तो वे परिग्रह नहीं कहलाते हैं और आसक्तिपूर्वक उन साधनों का उपयोग किया जाय तो वे ही परिग्रह रूप बन जाते हैं।

सद्गुरु संयम के उपकरणों का उपयोग करते हैं सिर्फ संयम धर्म के पालन के लिए।

4. इन्द्रिय-दमन (संयम) : मनुष्य को प्राप्त पाँच इन्द्रियाँ आत्मा का पतन भी करा सकती हैं और उत्थान भी । इन्द्रियाँ यदि वश में हैं तो आत्मा के उत्थान में सहायक बनती हैं और इन्द्रियाँ यदि वश में नहीं हैं तो आत्मा का अध:पतन ही कराती हैं ।

एक एक इन्द्रिय की पराधीनता के कारण हिरण आदि अपने प्राण गँवाते हैं तो पाँचों इन्द्रियों के अधीन रहे मानव की क्या हालत होगी ?

1. हिरण संगीत में आसक्त बनता है तो उसे मौत का शिकार होना पड़ता है ।

2. पतंगा रूप में आसक्त होता है तो आग में जलकर भस्मीभूत हो जाता है ।

3. भ्रमर सुगंध मे आसक्त होता है तो कमल की पंखुड़ियों में कैद हो जाता है ।

4. मांस के टुकड़े में आसक्त बनी मछली मौत का शिकार होती है ।

5. स्पर्श के सुख में आसक्त बने हाथी को जीवन भर गुलाम बनना पड़ता है ।

ये ही इन्द्रियाँ वश में हों तो संयम पालन में सहायक बनती हैं ।

कान हो तो जिनवाणी का श्रवण और गुर्वाज्ञा का श्रवण कर सकते हैं । आँख हो तो जीवदया का पालन, प्रभुदर्शन व श्रुत का स्वाध्याय कर सकते हैं । जीभ के द्वारा अन्य को सन्मार्ग की राह बता सकते हैं ।

सद्गुरु वे ही कहलाते हैं जो पुण्योदय से प्राप्त अपनी पाँच इन्द्रियों को अपने वश में रखते हैं ।

5. सिद्धांत के रहस्य ज्ञाता : जिनेश्वर भगवंत की वाणी को गणधर भगवंत सूत्र के रूप में गूँथते हैं । वे सूत्र दो प्रकार के होते हैं-अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य । आचारांग आदि अंग प्रविष्ट सूत्र कहलाते हैं और उत्तराध्ययन आदि अंग बाह्य । सूत्र सिद्धांत के रहस्य को अच्छी तरह गुरुओं ने जाना और समझा है ।

सूत्र के रहस्य के ज्ञाता सद्गुरु ही व्यवहार निश्चय व उत्सर्ग अपवाद आदि को अच्छी तरह से समझ सकते हैं ।

सूत्र रहस्य के ज्ञाता चौदह पूर्वधर महर्षि लांतक देवलोक तक जा सकते हैं ।

पाँच समिति से युक्त :- सद्गुरु ईर्या समिति आदि पाँच समिति से युक्त होते हैं ।

1. ईर्या समिति : यतना अर्थात् जीव रक्षा के ध्येय पूर्वक अपनी दृष्टि को युग प्रमाण भूमि में स्थापित कर सूर्य के प्रकाश में उपयोग पूर्वक चलना ।

2. भाषा समिति : सावद्य वचन के त्याग पूर्वक, मुहपत्ति के उपयोग पूर्वक प्रिय व हितकारी वचन बोलना ।

3. एषणा समिति : संयम के साधनभूत शरीर को टिकाने के लिए 42 दोषों से रहित निर्दोष आहार की गवेषणा करना, उसे एषणा समिति कहते हैं ।

4. आदान निक्षेपणा समिति : किसी भी वस्तु को लेते व रखते समय रजोहरण आदि से प्रमार्जन करना ।

5. पारिष्ठापनिका समिति : अनुपयोगी वस्त्र, पात्र, आहार या मलमूत्र आदि का निर्जीव भूमि में यतनापूर्वक विसर्जन करना ।

7. तीन गुप्ति से युक्त :

1. मनो गुप्ति : आर्त्त व रौद्र ध्यान के त्यागपूर्वक मन को शुभ ध्यान में जोड़ना, उसे मनोगुप्ति कहते हैं ।

2. वचन गुप्ति : सावद्य वचन के त्याग पूर्वक जरूरत पड़े तो उपयोग पूर्वक निरवद्य भाषा का प्रयोग करना-उसे वचन गुप्ति कहते हैं ।

3. काय गुप्ति : काया से सावद्य प्रवृत्ति का त्याग और निरवद्य प्रवृत्ति का सेवन ।

समिति सम्यग् प्रवृत्ति प्रधान है, जबकि गुप्ति में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों होती हैं ।

गुप्ति में शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति है । जबकि समिति में शुभ प्रवृत्ति की ही मुख्यता है ।

उपर्युक्त गुणों से युक्त सद्गुरु ही मेरे लिए शरणभूत हों, क्योंकि ऐसे सद्गुरु ही भवसागर से स्वयं पार उतर सकते हैं और अपना आश्रय करने वाले को भी पार उतार सकते हैं ।

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो ।
अहछंदो वि य एए, अवंदणिज्जा जिणमयंमि ।।9।।
पासत्थाइ वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होइ ।
जायइ कायकिलेसो, बंधो कम्मस्स आणाइ ।।10।।

शब्दार्थ

पासत्थो–पार्श्वस्थ,
ओसन्नो–अवसन्न,
होइ–होता है,
कुसीलो–कुशील,
तहेव–तथा,
संसत्तो–संसक्त,
अहछंदो–अवंदनीय,
एए–ये,
अवंदणिज्जा–अवंदनीय,
जिणमयंमि–जिनमत में,
पासत्थाइ–पार्श्वस्थ आदि को,
वंदमाणस्स–वंदन करनेवाले को,
नेव–नहीं है,
कित्ती–कीर्ति,
निज्जरा–निर्जरा,
जायइ–होता है,
कायकिलेसो–कायक्लेश,
बंधो–बंध,
कम्मस्स–कर्म का ।

भावार्थ–पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त तथा यथाछंद ये जिनमत में अवंदनीय हैं । पार्श्वस्थ आदि को वन्दन करने से न तो कीर्ति होती है और न ही निर्जरा । एक मात्र कायक्लेश होता है और कर्म का बंध होता है ।

विवेचन–सैनिक का ड्रेस पहिनने मात्र से कोई सैनिक नहीं बन जाता है तो डॉक्टर या वकील का ड्रेस पहिनने से कोई डॉक्टर या वकील नहीं बन जाता है, इसी प्रकार साधु का ड्रेस सफेद वस्त्र पहिनने मात्र से कोई साधु नहीं बन जाता है । मात्र पीला है, इतने मात्र से वह सोना नहीं कहलाता है और सफेद होने से वह दूध नहीं कहलाता है ।

साधु के वेष में रहे हुए व्यक्ति के जीवन में यदि साधुता नहीं है तो वह वेष न तो उस व्यक्ति को संसार-सागर से पार उतार सकता है और न ही अन्य को । संसार से पार उतरने के लिए तो जीवन में सच्ची साधुता चाहिए । प्रस्तुत गाथा में वेष की विडंबना करने वाले पार्श्वस्थ आदि का निर्देश किया है, जो जिनमत में अवंदनीय कहलाते हैं ।

(1) पासत्थ : इस शब्द से संस्कृत के दो शब्द निकलते हैं-पार्श्वस्थ व पाशस्थ ।

❖ **पार्श्वस्थ :** ज्ञान-दर्शन व चारित्र के समीप रहते हुए भी उनका कुछ भी उपयोग नहीं करने वाला । अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रहित ।

❖ **पाशस्थ :** कर्मबंध के हेतुभूत मिथ्यात्व आदि के जाल में फँसा हुआ । इसके दो भेद हैं-सर्वपासत्थ और देशपासत्थ ।

❖ **सर्वपासत्थ :** ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों से रहित, मात्र वेषधारी ।

❖ **देशपासत्थ :** निष्कारण शय्यातरपिंड, राजपिंड, नित्यपिंड का भोक्ता, कुलनिश्रा रखने वाला, स्थापनाकुलों में जाने वाला ।

❖ **शय्यातर : पिंड:- 'बसति'** दाता का आहार ।

❖ **अग्रपिंड :** पकाकर सीधे नीचे उतारे गये भात आदि का ऊपरी भाग ।

❖ **नित्यपिंड :** आप मेरे घर आना, मैं आपको नित्य भिक्षा दूँगा । इस प्रकार निमन्त्रण देनेवाले के घर का आहार ।

❖ **स्थापना-कुल :** गुरु, आचार्य आदि की भिक्षा के योग्य कुल ।

❖ **कुलनिश्रा :** अपने द्वारा प्रतिबोधित कुलों से ही भिक्षा ग्रहण करना ।

(2) अवसन्न : दस प्रकार की साधु समाचारी के पालन में शिथिल । अवसन्न के दो प्रकार हैं- 1) सर्वत : और 2) देशत : ।

1. सर्वत : जहाँ `अवबद्ध ऐसा पाठ है वहां अर्थ है कि शेष-काल (चातुर्मास के सिवाय) में भी पाट आदि का उपयोग करने वाला सर्वतः अवसन्न है । अवबद्ध पीठफलक तथा स्थापना-भोजी, सर्वतः अवसन्न हैं ।

1) अवबद्ध-पीठफलक : अवबद्ध अर्थात् छोटे-छोटे बाँस व लकड़ी के टुकड़ों को डोरी से बाँध कर बनाया हुआ संथारा । चातुर्मास में एक लकड़ी से निष्पन्न पाट न मिलने पर यदि इसका उपयोग करना पड़े तो उसे 15 दिन में एक बार खोलकर अवश्य पडिलेहणा करनी चाहिए, किन्तु जो ऐसा नहीं करता है वह **'अवबद्ध-पीठफलक'** कहलाता है । अथवा-सारे दिन संथारा बिछाकर रखने वाला अथवा संथारा नहीं बिछाने वाला भी अवबद्धपीठ फलक है ।

2) स्थापना भोजी : साधु के निमित्त रखी हुई वस्तु को लेने वाला ।

2. देशत : प्रतिक्रमण, पडिलेहण तथा दशविध समाचारी का पालन न करने वाला, न्यूनाधिक करने वाला या गुरु के भय से करने वाला ।

प्रतिक्रमण, पडिलेहण, स्वाध्याय, गमनागमन का कायोत्सर्ग आदि विधिपूर्वक न करने वाला, न्यूनाधिक करने वाला, नहीं करने वाला या प्रतिषिद्ध काल में करने वाला, प्रमादवश अथवा सुखशीलता से गोचरी नहीं जाने वाला, उपयोग-शून्य भ्रमण करने वाला, अकल्प्य वस्तु ग्रहण करने वाला, मैंने क्या किया ? मुझे क्या करना चाहिए ? करने योग्य मैं क्या नहीं करता ? इस प्रकार का शुभ-ध्यान न करने वाला, प्रत्युत् अशुभ ध्यान करने वाला, मंडली में गोचरी नहीं करने वाला, कौए, सियाल इत्यादि को देकर गोचरी करने वाला, संयोजना आदि दोषों से युक्त भोजन करने वाला, **'देशतः अवसन्न'** कहलाता है ।

अन्यमत से : गुरु के पास पच्चक्खाण न करने वाला, गुरु के सामने कठोर वचन बोलने वाला, उपाश्रय से बाहर आते-जाते निसीहि, आवस्सही न बोलने वाला, गमनागमन सम्बन्धी काउस्सग्ग न करने वाला अथवा दोषयुक्त करने वाला, बैठते या सोते संडासा प्रमार्जनादि न करने वाला, समाचारी के विपरीत आचरण करने वाला, गुरु द्वारा प्रायश्चित्त देने पर गुरु के सामने कठोर वचन बोलने वाला, गुरु का आदेश **'तहत्ति'** करके स्वीकार न करने वाला, लगे हुए दोषों का **'मिच्छा मि दुक्कडं'** न देने वाला, बिना पडिलेहण-प्रमार्जन के वस्तु को उठाने / रखनेवाला, गुरु की वैयावच्च न करने वाला, बिना वन्दन के ही प्रत्याख्यान करने वाला, इस प्रकार समाचारी का पालन न करने वाला या विपरीत पालन करने वाला **'देशावसन्न'** है ।

3) कुशील :- 'कुत्सितं शीलं अस्य इति कुशीलः ।' कुत्सित चारित्र वाला कुशील है । उसके तीन भेद हैं–

1) ज्ञानकुशील :- काल-विनय इत्यादि अष्टविध ज्ञानाचार की विराधना करने वाला ज्ञानकुशील है ।

2) दर्शनकुशील :- निःशंकिय...इत्यादि अष्टविध दर्शनाचार की विराधना करनेवाला दर्शनकुशील है ।

3) चारित्र-कुशील :- 1. कौतुककर्म, 2. भूति-कर्म, 3. प्रश्नाप्रश्न,

4. निमित्त, 5. आजीविक, 6. कल्ककुरुका, 7. लक्षण, 8. विद्या, 9. मंत्रादि के प्रयोग से चारित्र को मलिन बनाने वाला चारित्रकुशील है ।

1) कौतुक :- लोकप्रियता अर्जित करने के लिए या संतानप्राप्ति के लिए त्रिपथ, चतुष्पथ पर अनेक औषधियों से मिश्रित जलादि द्वारा स्त्रियों को स्नान कराना, उनके शरीर पर जड़ी-बूटी आदि बाँधना अथवा आश्चर्यकारी करतब दिखाना, जैसे बड़े-बड़े गोले मुँह से निगलकर कान-नाक आदि से पुनः निकालना, मुँह से आग निकालना इत्यादि कौतुक कर्म हैं ।

2) भूतिकर्म :- ज्वर आदि रोगों के ताबीज, डोरे आदि करना, रोगी की शय्या को चारों ओर से अभिमंत्रित करना आदि ।

3) प्रश्नाप्रश्न :- पूछे गये या बिना पूछे गये प्रश्नों का कर्णपिशाचिनी आदि विद्या द्वारा या मंत्राभिषिक्त घंटिका द्वारा स्वप्न में समाधान करना ।

4) निमित्त :- भूत, भविष्य या वर्तमान विषयक लाभालाभ बताना ।

5) आजीविक :- जाति आदि के द्वारा आजीविका चलाने वाला ।

6) कल्ककुरुका :- कपट से दूसरों को ठगना ।

7) लक्षण :- स्त्री-पुरुष के शारीरिक लक्षणों को बताना । यथा–

अस्थिष्वर्थाः

सुखं मांसे, त्वचि भोगा स्त्रियोऽक्षिषु ।
गतौ यानं स्वरे चाज्ञा सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ।।

हड्डियों के चिकनेपन में धन, मांस में सुख, त्वचा में भोग, नेत्रों में नारी, गति में वाहन, स्वर में आज्ञा तथा सत्त्व में सभी प्रतिष्ठित हैं ।

8) विद्यामंत्र :- विद्या, मंत्र आदि का स्वयं प्रयोग करना या दूसरों को बताना ।

विद्या-जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो ।

मंत्र-जिसका अधिष्ठायक देव हो । अथवा साधना करने से सिद्ध हो, वह विद्या । बिना साधना के ही सिद्ध हो वह मन्त्र ।

4) संसक्त : गुण और दोष दोनों से मिश्रित । जिस तरह गाय के चारे

में ऐंठा और शुद्ध दोनों तरह का खल-कपास होता है, वैसे संसक्त साधु गुण-दोष दोनों से मिश्रित संयम वाला होता है ।

1) संक्लिष्ट :- हिंसादि महास्रवों में रत, ऋद्धिगारव, रसगारव एवं सातागारव से गर्वित संक्लिष्ट है । यह दो प्रकार का है–

क) स्त्री का सेवन करने वाला **'स्त्री संक्लिष्ट' ।**

ख) गृहस्थ सम्बन्धी पुत्र-पुत्री, पशु, धन-धान्यादि की चिन्ता में रत **'गृहि संक्लिष्ट' ।**

2) असंक्लिष्ट :- जिसके साथ रहे वैसा आचरण करने वाला । संविज्ञ के साथ संविज्ञ जैसा, पार्श्वस्थ के साथ पार्श्वस्थ जैसा आचरण करने वाला । यह प्रियधर्मी व अप्रियधर्मी दो प्रकार का होता है ।

5) यथाच्छन्द :- सूत्र से विपरीत आचरण एवं प्ररूपणा करने वाला **'यथाच्छन्द'** है ।

जिनेश्वर देव के वचन से विरुद्ध, स्वबुद्धि से कल्पित, सिद्धान्त बाह्य जो भी है, वह उत्सूत्र कहलाता है । स्वयं उत्सूत्र का आचरण करने वाला तथा दूसरों के प्रति उत्सूत्र की प्ररूपणा करने वाला **'यथाच्छन्द'** है ।

❖ गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों को करने, कराने एवं अनुमोदन करने वाला ।

❖ किसी के अल्प अपराध में भारी क्रोध करने वाला, बार-बार झिड़कने वाला ।

❖ आगम से निरपेक्ष केवल अपनी मति-कल्पना से स्वाध्याय आदि किसी एक सरल अनुष्ठान को पकड़कर शेष आराधना के प्रति उपेक्षा बरतने वाला, सुखलिप्सु एवं विगयसेवी ।

❖ ऋद्धि, रस, साता गारव से गर्वित यथाच्छन्द है ।

जे बंभचेर भट्ठो, पाए पाडंति बंभयरीणं ।
ते हुंति दुंटमुंटा, बोही वि सुदुल्लहा तेसिं ।।11।।

शब्दार्थ

जे–जो,	**हुंति**–होते हैं,
बंभचेर–ब्रह्मचर्य,	**दुंटमुंटा**–हाथरहित-वामन,
भट्ठो–भ्रष्ट,	**बोही**–बोधि,
पाए–पाद में,	**वि**–भी,
पाडंति–गिराते हैं,	**सुदुल्लहा**–अत्यंत दुर्लभ,
बंभयरीणं–ब्रह्मचारी को,	**तेसिं**–उनको ।
ते–वे,	

भावार्थ–जो ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हैं और ब्रह्मचारी को अपने पाँवों में गिराते हैं, वे लूले व वामन होते हैं, उनके लिए बोधि भी अतिदुर्लभ है ।

विवेचन–श्रमण जीवन का प्राण ब्रह्मचर्य है, संयम जीवन स्वीकार करने के बाद जो इस व्रत में स्थिर नहीं रहता है, वह चारित्र से भ्रष्ट ही कहलाता है । जो स्वयं चारित्र से भ्रष्ट होकर अभिमान से दूसरे चारित्र-संपन्न साधुओं से वंदन लेता है अर्थात् दूसरों के वंदन को स्वीकार करता है, वह भयंकर पापकर्मों का बंध करता है, जिसके फलस्वरूप वह मरकर नरक आदि दुर्गति में जाता है और कभी मानव जन्म मिले तो भी लूला-लंगड़ा तथा वामन आदि होता है । ऐसे व्यक्ति को भविष्य में बोधि की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ हो जाती है अर्थात् जिनधर्म की प्राप्ति नहीं होती है ।

बोधि के अभाव में मोक्षमार्ग की आराधना साधना ही संभव नहीं है ।

जो स्वयं अपवित्र होकर भी पवित्रता का दंभ करते हैं, इसके जैसा दूसरा कोई पाप नहीं है ।

पाप हो जाने के बाद जो सच्चे दिल से पाप का स्वीकार कर लेते हैं, उन आत्माओं का भी उद्धार हो सकता है, परंतु दंभी व्यक्ति का कभी उद्धार नहीं हो सकता है । यह दंभ तो आत्मा के प्रगतिमार्ग में अवरोध ही पैदा करता है ।

दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
सिज्झंति चरणरहिआ, दंसणरहिआ न सिज्झंति ।।12।।

शब्दार्थ

दंसणभट्ठो–दर्शन से भ्रष्ट,
भट्ठो–भ्रष्ट,
दंसणभट्ठस्स–जो दर्शन से भ्रष्ट हुआ,
नत्थि–नहीं है,
निव्वाणं–निर्वाण,
सिज्झंति–सिद्ध होते हैं,
चरणरहिआ–चारित्र से रहित,
दंसणरहिआ–सिद्ध होता हैं,
दंसणरहिआ–दर्शन से रहित ।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन से जो भ्रष्ट है वह भष्ट कहलाता है । सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट का मोक्ष नहीं होता है । चारित्र से जो रहित है उनका मोक्ष हो सकता है, परंतु जो दर्शन से रहित है, उनका मोक्ष नहीं होता है ।

विवेचन–मोक्षमार्ग की साधना में आगे बढ़ने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की अपेक्षा रहती है । फिर भी कदाचित् किसी ने द्रव्य से चारित्र ग्रहण नहीं किया हो अथवा व्यवहार से बाह्य कठोर चारित्र का पालन नहीं किया हो तो भी उस आत्मा का अवश्य मोक्ष हो सकता है, बशर्ते उसने अपने अंतःकरण से भाव चारित्र का स्पर्श किया हो परन्तु जो आत्मा सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाती है उस आत्मा का तो कभी मोक्ष नहीं हो सकता है ।

मोक्षमार्ग की साधना में आगे बढ़ने के लिए सम्यग्दर्शन की सर्व प्रथम आवश्यकता है । सम्यग्दर्शन के अभाव में प्राप्त ज्ञान भी अज्ञान स्वरूप है और कठोर चारित्र भी कायकष्ट स्वरूप ही है ।

ऋषभदेव प्रभु की माता मरुदेवा ने द्रव्य से श्रमणी वेष को धारण नहीं किया था-इतना ही नहीं वे तो हाथी पर बैठी हुई थीं परंतु भावों की धारा में आगे बढ़ गई तो हाथी पर बैठी होने पर भी गृहस्थ के वेष में भी मरुदेवा माता को केवलज्ञान और अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष हो गया था ।

भरत महाराजा आरिसा (दर्पण) भवन में अपने देह का शणगार कर रहे थे । अचानक उनकी अँगुलि में से अँगूठी निकल गई, अँगूठी के अभाव में अँगुलि को निस्तेज देखकर वे देह की अनित्य भावना में चढ़ गए और उसी भावना में आगे बढ़ते हुए उन्हें केवलज्ञान भी हो गया ।

इलायचीकुमार को डोरी पर नृत्य करते हुए केवलज्ञान हो गया था ।

देवांगना जैसी आठ-आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करते हुए गुणसागर को लग्नमंडप में ही केवलज्ञान हो गया था । इससे सिद्ध होता है कि बाह्य चारित्र के अभाव में भी आत्मा का मोक्ष हो सकता है । परंतु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट बने हुए हैं, उन आत्माओं का तो कभी मोक्ष नहीं हो सकता है ।

चारित्र का बाह्य वेष या बाह्य चारित्र की उत्तम क्रियाएं भावों की अभिवृद्धि का प्रबल साधन अवश्य हैं, परंतु उसमें एकांत नहीं है । कई बार बाह्य चारित्र का उत्कृष्ट पालन होने पर भी भावों के अभाव के कारण आत्मा अपने विकास के मार्ग में आगे नहीं बढ पाती है, अतः बाह्य चारित्र को प्रधान कर अभ्यंतर साधना को कभी गौण न करें ।

माया

पाँव में लगा हुआ काँटा, जब तक बाहर नहीं निकलता है, तब तक पीड़ा ही देता है, बस, माया भी काँटे की तरह है । हृदय में माया होगी, तब तक व्यक्ति अंदर से सुखी नहीं होगा । लोभ का भी मूल माया ही है । अधिक-अधिक धन पाने के लिए व्यक्ति माया का आश्रय लिये बिना नहीं रहता है ।

तित्थयरसमो सूरि, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ ।
आणाइ अइक्कंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ।।13।।

शब्दार्थ

तित्थयरसमो–तीर्थंकर समान,	**आणाइ**–आज्ञा का,
सूरि–आचार्य,	**अइक्कंतो**–अतिक्रमण करने वाले,
सम्मं–सम्यग् रीति से,	**सो**–वह,
जो–जो,	**कापुरिसो**–खराब व्यक्ति,
जिणमयं–जिनमत को,	**न**–नहीं,
पयासेइ–प्रकाशित करते हैं,	**सप्पुरिसो**–सत्पुरुष ।

भावार्थ–सम्यग् प्रकार से जिनमत को प्रकाशित करने वाले आचार्य भगवंत तीर्थंकर समान हैं । आज्ञा का अतिक्रमण करने वाला कुपुरुष है, सत्पुरुष नहीं ।

विवेचन–तारक तीर्थंकर परमात्मा जगत् के जीवों के कल्याण के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद धर्मशासन की स्थापना करते हैं ।

यद्यपि केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद तीर्थंकर परमात्मा स्वयं कृतकृत्य हो जाते हैं, फिर भी एक मात्र जगत् के जीवों के कल्याण के लिए धर्मशासन की स्थापना करते हैं ।

अपने केवलज्ञान द्वारा जगत् के यथार्थ स्वरूप को परमात्मा प्रत्यक्ष देखते हैं । जगत् के जीवों को भी जगत् के यथार्थ स्वरूप का ख्याल आए, इसके लिए वे परमात्मा प्रतिदिन दिन के पहले व चौथे प्रहर में धर्म-देशना देकर जगत् के जीवों के अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करते हैं ।

परमात्मा के निर्वाण के बाद आचार्य भगवंत ही शासन की धुरा को वहन करते हैं । वे आचार्य भगवंत अपनी वाणी द्वारा जगत् के जीवों को जिनेश्वर परमात्मा के बताए हुए मार्ग का बोध कराते हैं । इस मार्गदर्शक गुण के कारण वे तीर्थंकर तुल्य माने गए हैं अर्थात् तीर्थंकरों के विरह में तीर्थंकर के मार्ग को बताने के कारण उन्हें तीर्थंकर की उपमा दी गई है ।

परंतु जो आचार्य पद को धारण करते हुए भी प्रभु के मार्ग से विपरीत प्ररूपणा करते हैं, वे कुपुरुष ही कहलाते हैं ।

प्रभु के बताए मार्ग की देशना करनेवाले जगत् के जीवों पर महान उपकार करते हैं, जबकि प्रभु के मार्ग से विपरीत प्ररूपण करने वाले जगत् के जीवों का महा अपकार करते हैं ।

किसी जीवात्मा को सन्मार्ग की राह बताना यह सबसे बड़ा उपकार है और किसी जीव को सन्मार्ग से भ्रष्ट करना यह सबसे बड़ा अपकार है ।

भूखे को भोजन देने से, प्यासे को पानी पिलाने से, कपडे रहित को कपडा देने से, रोगी को औषध देने से, मकान रहित को मकान देने से, निर्धन को धन देने से भी उपकार तो होता हैं, परंतु वह उपकार अल्पकाल के लिए होता है, जबकि किसी को मोक्ष मार्ग बताने से वह उपकार स्थायी होता है ।

तारक परमात्मा का अस्तित्व जगत् में मर्यादित काल के लिए होता हैं, अतः उनके अभाव मे पूज्य आचार्य भगवंत ही उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का बोध कराते है । मार्ग बतानेवाले का असीम उपकार है ।

माया-फल

माया से मैत्री समाप्त हो जाती है ।
मायावी से की कोई दोस्ती अत्यंत ही
खतरनाक होती है ।
माया करने से आत्मा तिर्यंच गति के
आयुष्य का बंध करती है ।
माया करने से आत्मा स्त्री-वेद का बंध करती है ।

जह लोहसिला अप्पं पि, बोलए तह विलग्गपुरिसंपि ।
इय सारंभो य गुरु, परमप्पाणं च बोलेइ ।।14।।

शब्दार्थ

जह–जिस प्रकार,	**पुरिसं पि**–पुरुष को भी,
लोहसिला–लोहे की शिला,	**इय**–इस प्रकार,
अप्पं पि–खुद को भी,	**सारंभो**–आरंभ सहित,
बोलए–डुबोती है,	**गुरु**–गुरु,
तह–तथा,	**परमप्पाणं**–दूसरे व स्वयं को,
विलग्ग–लगे हुए,	**बोलेइ**–डुबोता है ।

भावार्थ–जिस प्रकार लोहे की शिला खुद को और अपना आश्रय करनेवाले पुरुष को डुबोती है उसी प्रकार आरंभ-समारंभ वाले गुरु खुद को और अपना आश्रय करनेवाले अन्य को भी डुबोते हैं ।

विवेचन–पत्थर या लोहे के टुकड़े को पानी में डाला जाय तो वह तुरंत ही डूब जाता है । यदि कोई उस लोहे का आश्रय करे अर्थात् लोहे की नाव बनाकर उसमें बैठे तो लोहे की नाव स्वयं तो डूबेगी ही परंतु अपना आश्रय लेनेवाले को भी ले डूबेगी ।

जो गुरु स्वयं आरंभ-समारंभ में डूबे हुए हैं, बाह्य दृष्टि से गृहस्थ के उचित कार्यों को करते रहते हैं । हिंसा आदि पापों का पच्चक्खाण करने पर भी जो हिंसा आदि पाप करते रहते हैं । नवकोटि से पाप प्रवृत्ति का पच्चक्खाण करने पर भी जो गृहस्थों को मंत्र-तंत्र आदि बताते हैं । धन की वृद्धि के लिए डोरा-धागा आदि करते हैं । पुत्रप्राप्ति-धनप्राप्ति के लिए मंत्र प्रदान करते हैं, इस प्रकार की प्रवृत्ति करनेवाले वास्तव में गुरु कहलाने के लायक नहीं है । ऐसे गुरु तो पत्थर की नाव समान हैं जो स्वयं तो संसार-सागर में डूबते ही हैं-परंतु उनका आश्रय लेनेवाले को भी संसार-सागर में डुबोने का ही काम करते हैं ।

किइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणंमि कम्मबंधा य ।
जे जे पमायठाणा, ते ते उववूहिया हुंति ।।15।।

शब्दार्थ

किइकम्मं–कृतिकर्म (वंदन),	**जे जे**–जो जो,
च–तथा,	**पमायठाणा**–प्रमाद के स्थान,
पसंसा–प्रशंसा,	**ते ते**–वे वे,
सुहसीलजणंमि–सुखशील लोक को,	**उववूहिया**–प्रशंसा,
कम्मबंधा–कर्मबंध,	**हुंति**–होते हैं ।

भावार्थ–सुखशील लोक को किया गया वंदन और प्रशंसा कर्मबंध के लिए होती है, क्योंकि इससे प्रमाद के जो-जो स्थान हैं, उन सबकी उपबृंहणा (प्रशंसा) होती है ।

विवेचन–गुण हमेशा गुणवान व्यक्ति में रहते हैं अर्थात् गुण और गुणी का अपना अभेद संबंध है । गुणी को नमस्कार करने से गुणों को भी नमस्कार हो जाता है । गुणवान को नमस्कार करने से उसके जीवन में रहे गुण हमारे जीवन में आए बिना नहीं रहते हैं ।

बस, इसी प्रकार गुणहीन को नमस्कार करने से उसके जीवन में रहे दोषों को भी नमस्कार हो जाता है, भविष्य में दोष अपने जीवन में आए बिना नहीं रहते हैं ।

जो साधु सुखशील है अर्थात् साधु के आचारपालन में शिथिल है, ऐसे शिथिल साधु को वंदन करने से या उसके जीवन की प्रशंसा करने से हमें लाभ के बदले नुकसान ही होता है, क्योंकि दोषयुक्त, आचारहीन साधु को नमस्कार करने से उसके दोषों को भी पुष्टि मिलती है । उसके जीवन में रहे प्रमादसेवन की प्रशंसा करने से वे दोष हमारे जीवन में भी आए बिना नहीं रहते हैं ।

दुनिया में अधिकांश जीव अनुकरणवृत्ति वाले होते हैं । एक को देखकर दूसरा भी उसका अनुकरण करता है ।

आचारभ्रष्ट शिथिल साधु को वंदन करते हुए देखकर अन्य बालजीवों के मन में भी यह श्रद्धा दृढ होती है कि यदि ऐसे व्यक्ति भी उन्हें वंदन करते हैं तो हमारे वंदन करने में क्या एतराज है ?

एवं नाऊण संसग्गिं, कुसीलाणं च संथवं ।
संवासं च हियाकंखी, सव्वोवाएहिं वज्जए ।।16।।

शब्दार्थ

एवं–इस प्रकार,
नाऊण–जानकर,
संसग्गिं–संसर्ग को,
कुसीलाणं–कुशील के,
संथवं–प्रशंसा,
संवासं–साथ में रहना,
हियाकंखी–हित आकांक्षी,
सव्वोवाएहिं–सभी उपायों से,
वज्जए–त्याग करे ।

भावार्थ–इस प्रकार जानकर कुशीलों का संसर्ग, उनकी प्रशंसा व संग प्रत्येक हितकांक्षी को छोड़ देना चाहिए ।

विवेचन–मानव जीवन संग से अत्यधिक प्रभावित होता है । अच्छे व सज्जन पुरुषों का संग करने से अपने जीवन में भी सद्गुणों का विकास होता है तो दुर्जन व्यक्ति का संग करने से अपने जीवन में भी दोषों की पुष्टि होती है ।

जो स्वयं वीतराग है, उसके जीवन पर गुणहीन व्यक्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है अथवा जो अभव्य, दूरभव्य या अति अयोग्य आत्मा है उसे चाहे जितने श्रेष्ठ आलंबन मिल जाय तो भी उसे कोई लाभ नहीं होता है । परंतु मध्यम स्थिति में रहे जीवों पर तो अच्छे या बुरे निमित्तों का प्रभाव पड़ता ही है । यदि उन्हें अच्छे निमित्त मिल जाते हैं तो उनका जीवन भी अधम हुए बिना नहीं रहता है । अतः आत्म-हितैषी व्यक्ति को कुशील व चारित्रहीन साधु का अवश्य त्याग करना चाहिए ।

गंगा का पवित्र जल भी जब सागर के साथ संपर्क करता है तो सागर में मिलने के साथ ही गंगा की पवित्रता समाप्त हो जाती है और गंगा का पवित्र जल भी खारा हो जाता है ।

चारित्रहीन कुशील साधुओं का संसर्ग करने से लाभ के बदले नुकसान ही ज्यादा है, अतः आत्महित के इच्छुक व्यक्ति को ऐसे आचारभ्रष्ट साधुओं के संसर्ग-संपर्क का सर्वथा त्याग ही करना चाहिए । साधु का वेष धारण करने मात्र से ही कोई साधु नहीं बन जाता है अतः जो पाँच महाव्रतों के धारक हैं, कंचन और कामिनी के त्यागी हैं, उन्हीं से अपना संपर्क होना चाहिए । सद्गुरु तो वे पारस मणि हैं जो लोहतुल्य गुणहीन ऐसी अपनी आत्मा को सुवर्ण तुल्य बना देते हैं ।

अहि गिलइ गलइ उअरं, अहवा पच्चुगलंति नयणाइं ।
हा विसमा कज्जा गइ, अहिणा छच्छुंदरी गहिआ ।।17।।

शब्दार्थ

अहि–सर्प,	**हा**–आश्चर्य है,
गिलइ–निगलता है,	**विसमा**–विषम है,
गलइ–नष्ट होता है,	**कज्जा गइ**–कार्य की गति,
उअरं–उदर,	**अहिणा**–साँप द्वारा,
पच्चुगलंति–वापस निकलता है,	**छच्छुंदरी**–छछूंदरी,
नयणाइं–आँखें,	**गहिआ**–ग्रहण की है ।

भावार्थ–मुँह से पकड़ने के बाद साँप यदि छछूंदर को निगल जाता है तो उसका पेट फट जाता है और उसको मुँह से बाहर निकाल देता है तो उसकी आँखें फूट जाती हैं । अहो ! यह विषम कार्य हुआ कि साँप ने छछूंदर को पकड़ा ।

विवेचन–भवसागर से पार उतारने में समर्थ ऐसे चारित्रधर्म को स्वीकार करने के बाद जो संयम के आचार-पालन में शिथिल हो जाता है और प्रमाद का आचरण कर दुर्गति के गर्त में डूबने की तैयारी करता है वह मूर्ख शिरोमणि ही है ।

संयम से भ्रष्ट व्यक्ति की इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः जैसी स्थिति हो जाती है । संयम से भ्रष्ट व्यक्ति को न तो संयम की साधना होती है और न ही श्रावकपने की ।

संयम धर्म की निर्मल साधना मोक्ष प्रदान करती है, मोक्ष न मिले तो सद्गति-देवगति की प्राप्ति होती है । परंतु संयम धर्म की शिथिलता के कारण, संयम धर्म के प्रति आदर बहुमान का अभाव होने के कारण संयम धर्म का भी फल नहीं मिलता है ।

स्वयं संयम धर्म के पालन में असमर्थ हो तो संयम के वेष में रहकर शासन की हीलना-निंदा न हो उसे पुनः गृहस्थ जीवन के स्वीकार का भी मार्ग बताया है परंतु जो वेष संयम का धारण करे और प्रवृत्ति असंयम की करे तो ऐसा व्यक्ति अनेक जीवों को भी धर्म की श्रद्धा से ही भ्रष्ट करता है ।

भ्रष्ट संयमी न तो सर्वविरति का साधक होता है न ही देशविरति का । उसकी स्थिति छछूंदर को मूँह से पकड़नेवाले साँप जैसी ही होती है ।

को चक्कवट्टिरिद्धिं, चइउं दासत्तणं समभिलसइ ।
को वा रयणाइं मुत्तुं, परिगिन्हइ उवलखंडाइं ।।18।।
नेरइयाण वि दुक्खं, झिज्जइ कालेण किं पुण नराणं ।
ता न चिरं तुह होइ, दुक्खमिणं मा समुव्वियसु ।।19।।

शब्दार्थ

को–कौन,
चक्कवट्टिरिद्धिं–चक्रवर्ती की ऋद्धि को,
चइउं–छोड़कर,
दासत्तणं–दासपने को,
समभिलसइ–इच्छा करता है,
को वा–अथवा कौन,
रयणाइं–रत्नों को,
मुत्तुं–छोड़कर,
परिगिन्हइ–ग्रहण करता है,
उवलखंडाइं–पत्थर के टुकड़ों को,
नेरइयाण–नरक का,
वि–भी,
दुक्खं–दुःख,
झिज्जइ–नष्ट होता है,
कालेण–समय बीतने पर,
किं–क्या,
पुण–पुनः,
नराणं–**मनुष्य का,**
ता–तो,
न–नहीं,
चिरं–दीर्घकाल तक,
तुह–तुझे,
होइ–होगा,
दुक्खमिणं–यह दुःख,
मा–न,
समुव्वियसु–उद्वेग मत करो ।

भावार्थ–**चक्रवर्ती की ऋद्धि को छोड़कर कौन दासपने की अभिलाषा करता है ? अथवा रत्नों को छोड़कर कौन पत्थर के टुकड़ों को ग्रहण करेगा ?**

समय बीतने पर नरक के दुःख भी नष्ट हो जाते हैं तो फिर मनुष्य के दुःखों की क्या बात करें ! यह दुःख तुम्हें दीर्घ काल तक नहीं रहेगा अतः उद्विग्न मत बनो ।

विवेचन–चक्रवर्ती छह खंड का अधिपति होता है । 32000 मुकुटबद्ध राजा उसके चरणों मे नतमस्तक होते हैं । देवांगना जैसी 64000 स्त्रियों का वह अधिपति होता है । हस्तीरत्न, अश्वरत्न, स्त्रीरत्न आदि 14 रत्नों का स्वामी होता है । उसके पुण्य से अनेक देवता भी उसके अधीन होते हैं और उसे उसके कार्य में सहायता करते हैं ।

चक्रवर्ती के पास नैसर्प आदि नौ निधियाँ होती हैं । इस प्रकार मनुष्य लोक में सर्वाधिक संपत्ति व वैभव का मालिक चक्रवर्ती होता है ।

एक ओर चक्रवर्ती का पद प्राप्त होता हो तो कौन मूर्ख होगा जो दास बनने की इच्छा करेगा ?

एक ओर मूल्यवान रत्न की प्राप्ति होती हो तो कौन मूर्ख होगा जो रत्न को फेंक कर काच के टुकड़े को ग्रहण करने की इच्छा करेगा ?

पहली नरक में जघन्य आयुष्य भी 10000 वर्ष का है और उत्कृष्ट आयुष्य एक सागरोपम का है । इस प्रकार क्रमशः आगे-आगे की नरकों में जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य बढ़ता जाता है ।

सातवीं नरक में जघन्य आयुष्य भी 22 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 33 सागरोपम का होता है, जिसमें असंख्य वर्ष होते हैं ।

इतना लंबा आयुष्य भी कालक्रम से पूरा हो जाता है तो पुण्यात्मन् ! इस जीवन में तो तुम्हारा आयुष्य कितना अल्प है ।

अशुभ कर्म के उदय से शारीरिक अशाता का उदय हो तो भी तुम्हें कितने वर्ष तक सहन करने का है ? वर्तमान समय में मानव का आयुष्य कितना अल्प है । अधिक से अधिक 100 वर्ष का आयुष्य है । इतने अल्प जीवन में यदि कभी सहन करने का अवसर आ जाए तो उसे समतापूर्वक सहन कर लेना चाहिए-परंतु लेश भी दुर्ध्यान नहीं करना चाहिए, थोड़ा भी दुर्ध्यान नरक व तिर्यंच गति का ही कारण बनता है ।

हे पुण्यात्मन् ! इस जीवन के शारीरिक या मानसिक दुःखों से तू घबरा मत ।

इस जीवन में जो भी कष्ट दिखाई देते हैं वे सभी कष्ट अपनी आत्मा ने भूतकाल में अनंत बार सहन किए हैं, कोई भी कष्ट हमारे लिए नया नहीं है । परंतु मृत्यु के साथ ही जब देह परिवर्तन होता है तो पूर्व की सारी स्मृतियाँ समाप्त हो जाती हैं ! भूतकाल में हमने अनेक बार नरक की घोरातिघोर यातनाएँ भी सहन की हैं परंतु आज उनमें से एक भी स्मृति में नहीं है । इस कारण हमें हर दुःख नया ही लगता है । हमें ऐसा ही लगता है कि यह दुःख तो मैंने कभी सहन नहीं किया है-यह दुःख मुझ से कैसे सहन होगा ?

अनंतज्ञानी तारक तीर्थंकर परमात्मा और उनके केवलज्ञान पर पूर्ण श्रद्धा हो तो हमें ख्याल आता है कि इस जगत् में कोई भी दुःख हमारे लिए नया नहीं तो फिर वर्तमान में आए दुःख को क्यों न समतापूर्वक सहन करें ।

वरं अग्गिंमि पवेसो, वरं विसुद्धेण कम्मुणा मरणं ।
मा गहिय व्वयभंगो, मा जीअं खलिअ सीलस्स ।।20।।

शब्दार्थ

वरं–अच्छा है,	**मा**–नहीं,
अग्गिंमि–आग में,	**गहिय व्वयभंगो**–गृहीत व्रतभंग,
पवेसो–प्रवेश,	**मा जीअं**–जीना अच्छा नहीं,
विसुद्धेण–विशुद्ध,	**खलिअ**–स्खलित,
कम्मुणा मरणं–कर्म से मरण,	**सीलस्स**–शीलवाले का ।

भावार्थ–आग में प्रवेश करके या अन्य विशुद्ध कर्म से मरना अच्छा, परंतु ग्रहण किए गए व्रत का भंग करना अच्छा नहीं है । स्खलितशील वाले का जीना ठीक नहीं है ।

विवेचन–इस संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रही आत्मा को सम्यक्त्व-देशविरति धर्म और सर्वविरति धर्म की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर अत्यंत ही दुर्लभ है ।

देवगुरु की असीम कृपा, महान् पुण्योदय और अंतरंग योग्यता के विकास बिना इन सबकी प्राप्ति होना बहुत ही दुर्लभ है, फिर भी मोहोदय के कारण कई आत्माएँ प्राप्त सामग्री को भी सफल नहीं बना पाती हैं ।

मोह के उदय के कारण पुनः संसार के सुख-भोग का मन में आकर्षण पैदा हो जाता है । उस आकर्षण को तोड़ने के लिए ही ग्रंथकार महर्षि प्रस्तुत गाथा द्वारा हितशिक्षा देते हुए कहते हैं कि–

तुझे धगधगायमान आग की ज्वालाओं के बीच में कूदकर मर जाना अच्छा है, अथवा अन्य किसी उपाय द्वारा मौत को भेंट जाना अच्छा है । परंतु बड़े उत्साह और उल्लास के साथ में चतुर्विध संघ की साक्षी में ग्रहण किए हुए व्रतों का भंग करना अच्छा नहीं है ।

चतुर्विध संघ की साक्षी में, समवसरण में विराजमान प्रभुजी की साक्षी में, जिन व्रतों या महाव्रतों को खूब उत्साह और उल्लास के साथ सहर्ष स्वीकार किया है तो अब व्रतों के पालन में उत्साह भंग क्यों ?

अपने मन के परिणाम वृद्धिंगत होने चाहिए, किसी संयोगवश मन के परिणाम वृद्धिंगत न हों तो कम-से-कम स्थिर तो रहने ही चाहिए, मन के परिणाम हीयमान नहीं होने चाहिए ।

स्वेच्छा से व्रत ग्रहण कर उन्हें भंग करके जीना यह सज्जन व्यक्ति के लिए शोभास्पद तो नहीं है, किसी भी संयोग में मन के परिणाम शिथिल न हो जाँय, इसके लिए पूर्ण प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

धर्म का प्रवेश पहले काया में होता है, फिर मन में आता है, जब कि पाप का प्रवेश पहले मन में होता है, फिर काया में आता है ।

मन में पाप घुस न जाय, इसके लिए खूब सावधानी रखनी चाहिये । प्रायः बाह्य अशुभ निमित्तों को पाकर ही मन में अशुभ निमित्तों से बचने का प्रयत्न करना चाहिये ।

बाह्य अशुभ निमित्त पतन के गर्त में डूबानेवाले हैं, अतः उनसे कोसों दूर ही रहना चाहिये ।

दोष

रोग और दोष दोनों में समानता है ।
रोग को छिपाने से रोग बढ़ता है और डॉक्टर के
आगे रोग को प्रगट करने से रोग नष्ट होता है ।
अपनी आत्मा में रहे दोष को छिपाने से
वह दोष बढ़ता जाता है और सद्गुरु के आगे अपने
दोषों को प्रगट करने से अपने दोष जाते हैं ।

अरिहं देवो गुरुणो, सुसाहुणो जिणमयं मह पमाणं ।
इच्चाइ सुहो भावो, सम्मत्तं बिंति जगगुरुणो ।।21।।

शब्दार्थ

अरिहं–अरिहंत,	**पमाणं**–प्रमाण,
देवो–देव,	**इच्चाइ**–इत्यादि,
गुरुणो–गुरु,	**सुहो भावो**–शुभ भाव,
सुसाहुणो–सुसाधु,	**सम्मत्तं**–सम्यक्त्व,
जिणमयं–जिनमत,	**बिंति**–कहते हैं,
मह–मुझे,	**जगगुरुणो**–जगद्गुरु ।

भावार्थ–अरिहंत देव (भगवान) हैं, सुसाधु गुरु हैं और जिनमत मुझे प्रमाणभूत है । इत्यादि जो शुभ भाव है उसे जगद्गुरु सम्यक्त्व कहते हैं ।

विवेचन–नीव के अभाव में मकान टिक नहीं सकता, जड़ के अभाव में वृक्ष टिक नहीं सकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में धर्म टिक नहीं सकता । सम्यक्त्व के अभाव में नौ पूर्वों का ज्ञान भी अज्ञान ही कहलाता है । और कठोरतम चारित्र भी सिर्फ कायकष्ट कहलाता है ।

प्राण के अभाव में देह की कीमत नहीं है उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र की भी कीमत नहीं है । ज्ञान और चारित्र को सफल बनाने वाला सम्यक्त्व ही है । इसीलिए ज्ञानियों ने सम्यक्त्व पर खूब भार दिया है ।

अनित्य आदि बारह प्रकार की भावनाओं मे भी बोधिदुर्लभ भावना बताकर सम्यक्त्व की प्राप्ति को बहुत ही दुर्लभ कहा है ।

सम्यक्त्व का स्वरूप समझाते हुए जगद्गुरु परमात्मा ने कहा है जब हृदय में यह शुभभाव पैदा होता है कि अरिहंत परमात्मा ही मेरे लिए आराध्यदेव हैं । जगत् में देव के नाम से तो बहुत हैं, परंतु देव का वास्तविक स्वरूप अरिहंत परमात्मा को छोड़ अन्य किसी में नहीं है ।

छद्मस्थ को भवसागर तिरने के लिए सद्गुरु की अपेक्षा रहती है तो पंचमहाव्रतधारी कंचन-कामिनी के त्यागी और वीतराग परमात्मा के बताए मार्ग पर चलने वाले सुसाधु भगवंत ही मेरे लिए सद्गुरु हैं ।

जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा बताया हुआ धर्म ही सच्चा धर्म है । इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा और पूर्ण विश्वास जिसके हृदय में होता है उसी को सम्यक्त्व कहा गया है ।

सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान भी ज्ञानस्वरूप नहीं है अर्थात् ज्ञान भी अज्ञान ही है और बाह्य चारित्र भी चारित्र नहीं है सिर्फ कायकष्ट ही है ।

अरिहंत परमात्मा व सद्गुरु के स्वरूप को अच्छी तरह से जानकर यथार्थ स्वरूप वालों को ही अरिहंत देव व गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहिए और उनकी हर आज्ञा खूब आदरपूर्वक शिरोधार्य करनी चाहिए ।

इस संसार में अन्य सभी वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ है, परंतु सम्यक्त्व की प्राप्ति अत्यंत ही दुर्लभ है । इस जीवन में महान पुण्योदय से देव-गुरु-धर्म की सामग्री प्राप्त हुई हैं तो उसका पूरा पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न होना चाहिये ।

गुण-रक्षण

आत्मगुणों को प्राप्त करना तो कठिन है ही, परंतु
प्राप्त हुए गुणों का रक्षण करना तो और भी कठिन है ।
पांच इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति के
वशीभूत होकर व्यक्ति प्राप्त गुणों को भी हार जाता है ।
प्राप्त गुणों के रक्षण के लिए
आत्म-जागृति खूब जरुरी है ।

लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो ।
एगं नवरि न लब्भइ, दुल्लहरयणं व सम्मत्तं ।।22।।

शब्दार्थ

लब्भइ–प्राप्त किया जाता है,	**एगं**–एक,
सुरसामित्तं–देव का स्वामित्व,	**नवरि**–सिर्फ,
पहुअत्तणं–स्वामित्व,	**दुल्लहरयणं**–दुर्लभरत्न,
न–नहीं,	**व**–तरह,
संदेहो–शंका,	**सम्मत्तं**–सम्यक्त्व ।

भावार्थ–देवलोक का स्वामित्व व प्रभुत्व भी प्राप्त हो सकता है इसमें कोई संदेह नहीं है परंतु दुर्लभ ऐसा सम्यक्त्व रत्न प्राप्त नहीं होता है ।

विवेचन–इस संसार में चार गति में परिभ्रमण कर रही आत्मा को कई वस्तुएँ दुर्लभ हैं । पुण्योदय के बिना मानव जन्म, पंचेन्द्रिय-परिपूर्णता, दीर्घ आयुष्य, राजा-महाराजा, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, बलदेव, चक्रवर्ती, देवलोक में देव-देवेन्द्र के रूप में जन्म आदि वस्तुअे प्राप्त नहीं होती है ।

इन सब वस्तुओं से भी सबसे अधिक दुर्लभ है सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति ।

चिंतामणि रत्न या अन्य किसी भी मूल्यवान रत्न की प्राप्ति होना सुलभ है, परंतु सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति तो अति-अति दुर्लभ है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पाँच इन्द्रियाँ और मन जरूरी है । एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को कभी भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है ।

संज्ञी पंचेन्द्रियपने की प्राप्ति के बाद भी काल परिपाक खूब जरूरी है, जिस आत्मा का संसार-परिभ्रमण अर्द्ध पुद्गल परावर्तकाल से थोड़ा भी अधिक है उस आत्मा को भी सम्यक्त्व रूपी रत्न कभी प्राप्त नहीं हो सकता है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए कर्म की लघुता भी अनिवार्य है । जब तक मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अंतःकोटाकोटि सागरोपम की नहीं हो जाती है, तब तक भी आत्मा सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त नही कर सकती है ।

सम्यक्त्व को पाने के लिए आत्मा का प्रचंड पुरुषार्थ भी खूब जरूरी है ।

अपनी भुजाओं के बल से स्वयंभूरमण समुद्र को पार करना आसान है, परंतु सम्यक्त्व को प्राप्त करना बहुत कठिन है ।

सम्यक्त्व के बिना आत्मा का उद्धार नहीं है अतः सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नहीं हुआ हो तो उसे पाने के लिए अपना पुरुषार्थ होना चाहिए और सम्यकत्व रत्न प्राप्त हो गया हो तो अब वह वापस खो न जाय उसके लिए अपना पुरुषार्थ होना चाहिए ।

एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय आत्माएं सम्यक्त्व प्राप्त नहीं पर सकती है । असंज्ञी पंचेन्द्रिय आत्माओं के लिए भी सम्यक्त्व प्राप्ति असंभव है ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था में ही सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव है ।

देव-गुरु-धर्म के आलंबन बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो पाती है । अतः देव दुर्लभ मानव भव को प्राप्त कर अपना प्रयत्न सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अवश्य होना चाहिये ।

बीज

एक छोटेसे बीज में से ही जिस प्रकार एक
वट वृक्ष खडा होता है, उसी प्रकार
वीतराग परमात्मा की भक्ति के बीज में से
परमानंद का वट वृक्ष खड़ा होता है ।
बीज बिना वृक्ष पैदा नहीं होता है, उसी प्रकार प्रभु
की भक्ति बिना परमानंद का सुख कभी भी
प्राप्त नहीं होता है ।

सम्मत्तंमि उ लद्धे, विमाणवज्जं न बंधए आउं ।
जइ य न सम्मत्तजढो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं ।।23।।

शब्दार्थ

सम्मत्तंमि–सम्यक्त्व के,	**न**–नहीं,
लद्धे–प्राप्त होने पर,	**सम्मत्तजढो**–सम्यक्त्व को छोड़ा,
विमाणवज्जं–वैमानिक को छोड़,	**अहव**–अथवा,
न बंधए–बाँधता नहीं है,	**बद्धाउओ**–बद्ध आयुष्य,
आउं–आयुष्य को,	**पुव्विं**–पहले ।
जइ–यद्यपि,	

भावार्थ–यदि सम्यक्त्व को छोड़ी नहीं हो अथवा पहले आयुष्य का बंध नहीं हुआ हो तो सम्यक्त्व के होने पर वैमानिक देवगति को छोड़ अन्य आयुष्य का बंध नहीं होता है ।

विवेचन–सम्यक्त्व की महिमा अपरंपार है । यदि क्षायिक भाव का सम्यक्त्व हो तो आत्मा उसी भव में घाति-अघाति कर्मों के बंधन को तोड़कर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त कर सकती है । संयोगवश श्रेणिक महाराजा आदि की तरह क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व आयुष्य का बंध हो गया हो तो तीसरे भव में अवश्य मोक्षपद प्राप्त करती है ।

यदि क्षयोपशम भाव का सम्यक्त्व हो तो उस भव में मोक्ष में नहीं जा सकती है, परंतु सम्यक्त्व की उपस्थिति में वह आत्मा आयुष्य का बंध करे तो वैमानिक देवगति के ही आयुष्य का बंध करती है । सम्यक्त्व की उपस्थिति में नरक तिर्यंच गति के आयुष्य द्वार बंद हो जाते हैं ।

सम्यक्त्व धारक आत्मा मनुष्य व तिर्यंच गति में है तो वह वैमानिक देवगति का ही आयुष्य बाँधती है और देव, नरक गति में हो तो सिर्फ मनुष्य भव का ही आयुष्य बाँधती है ।

सम्यक्त्व की उपस्थिति में तिर्यंच गति के जीव भी वैमानिक देव गति के ही आयुष्य का बंध करते हैं ।

श्रेणिक महाराजा क्षायिक समकिती होते हुए भी मरकर पहली नरक में गए, इसका कारण है कि उन्होंने सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व ही गर्भवती हिरणी का शिकार करने के बाद नरक का आयुष्य बाँध लिया था ।

जीवन भर हिंसा करने के बाद भी चंडकोशिक सर्प मरकर आठवें वैमानिक देवलोक में पैदा हुआ । उसका मुख्य कारण उसने सम्यक्त्व की हाजरी में देवायु का बंध किया था ।

भगवान महावीर प्रभु की घोर आशातना करनेवाला गोशालक भी मरकर 12 वें देवलोक में देव बना, इसका मुख्य कारण भी यही है कि उसने प्रभु की आशातना करते समप आयुष्य का बंध नहीं किया था । बल्कि अपने किए हुए पाप के पश्चात्ताप के बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद आयुष्य का बंध किया था ।

भगवान महावीर के ऊपर तेजोलेश्या छोड़कर तीर्थंकर परमात्मा की घोर आशातना करनेवाले गोशाला को अंत समय में तीव्र पश्चात्ताप हुआ, उस पश्चात्ताप के फल स्वरुप उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया । सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में उसने अपना आयुष्य बांधा तो वह मरकर बारहवें देवलोक में देव के रुप में पैदा हो गया ।

इतिहास के स्वर्णिम पृष्टों पर ऐसे सैकडों दृष्टांत है, जिसमें पापी और अधम आत्माएं भी अपने किए पाप के पश्चात्ताप द्वारा ऊर्ध्वगामी बन गई ।

सुखी कौन ? दुःखी कौन ?

शारीरिक आरोग्य के लिए पांव का गर्म होना और दिमाग का ठंडा होना बहुत जरुरी है । जिसके पाँवों में गर्मी नहीं है और दिमाग मे ठंडी नहीं है, वह व्यक्ति भोजन के सभी नियमों का पालन करता हो तो भी महा दुःखी होता है ।

दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो ।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स ।।24।।

शब्दार्थ

दिवसे दिवसे–प्रतिदिन,	**पुण**–पुनः,
लक्खं–लाख,	**सामाइयं**–सामायिक,
देइ–देता है,	**करेइ**–करता है,
सुवण्णस्स–सोने की,	**न**–नहीं,
खंडियं–खांडी,	**पहुप्पए**–समर्थ होता है,
एगो–एक,	**तस्स**–उसका ।

भावार्थ–एक व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख खांडी सोने का दान करता है और दूसरा व्यक्ति सामायिक करताहै तो दान देने वाला सामायिक करने वाले की तुलना नहीं कर सकता है ।

विवेचन–सामायिक की महिमा अपरंपार है । उत्कृष्ट भाव से की गई सामायिक की साधना तो आत्मा को मोक्ष देने में समर्थ है ।

सामायिक में समस्त पापकारी प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग किया जाता है । जिसमें यह सामर्थ्य हो वह जीवन पर्यंत के लिए सामायिक की इस प्रतिज्ञा का स्वीकार करता है । यह सामायिक सर्वविरतिधर साधु महात्माओं को होती है ।

परंतु जो गृहस्थ जीवन पर्यंत के लिए पापकारी सभी प्रवृत्तियों का त्याग करने में समर्थ नहीं हैं, वे भी सर्वविरति धर्म पाने के लक्ष्य के साथ प्रतिदिन सामायिक धर्म की आराधना-साधना कर सकते हैं ।

श्रावक का नौवाँ व्रत सामायिक व्रत है । इस व्रत द्वारा श्रावक प्रतिदिन सामायिक धर्म की साधना करता है । एक सामायिक का काल अड़तालीस मिनिट अर्थात् दो घड़ी का बताया गया है ।

सामायिक करते समय श्रावक साधुवत् बनता है अतः उसे जब भी अवकाश मिले तब सामायिक की साधना करनी चाहिए ।

सामायिक में रहा श्रावक मन, वचन और काया से सावद्य प्रवृत्तियों के करने व कराने का त्याग करता है ।

साधु की सामायिक में नौ कोटि से पाप के त्याग का पच्चक्खाण होता है, जब कि श्रावक की सामायिक में छहकोटि से पाप के त्याग का पच्चक्खाण होता है । इस प्रकार अधिकांश प्रमाण में पाप के त्याग का पच्चक्खाण होने से श्रावक भी साधुवत् कहलाता है । यद्यपि श्रावक के लिए पाप त्याग की प्रतिज्ञा अल्पकाल के लिए होती है फिर भी इस प्रतिज्ञा द्वारा वह अपूर्व कर्मनिर्जरा करता जाता है ।

श्रावक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए धन की भी अपेक्षा रहती है । इस हेतु वह अर्थार्जन भी करता है और धन का संग्रह भी करता है ।

यद्यपि श्रावक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए धन की भी अपेक्षा रहती है । इस हेतु वह अर्थार्जन भी करता है और धन का संग्रह भी करता है ।

यद्यपि यह धन स्वयं पाप स्वरूप है परंतु इस पाप के त्याग का दृढ़ मनोबल न होने से, उस धन की आसक्ति को तोड़ने के लिए श्रावक को प्रतिदिन दान धर्म की भी आराधना करनी चाहिए ।

इस प्रकार श्रावक जीवन में सामायिक की भी आराधना है और दान धर्म की भी आराधना है ।

प्रस्तुत श्लोक में सामायिक की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि लाखों सोना मोहर के दान से भी एक सामायिक की साधना बढ़ जाती है क्योंकि दान में सिर्फ धन के पाप का आंशिक त्याग है, जबकि सामायिक में पाप प्रवृत्तियों का संपूर्ण त्याग है और मन को समता भाव से भावित करना है । धन का दान सरल है परंतु सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, शत्रु-मित्र आदि विविध द्वन्द्वों में मन को समभाव से भावित करना बहुत ही कठिन है ।

जीवन में पाप हो जाना
सहज है परंतु उन पापों की
गुरु के पास आलोचना
करना कठिन है ।

निंदा पसंसासु समो, समो य माणावमाणकारीसु ।
समसयण परियण मणो, सामाइयसंगओ जीवो ।।25।।

शब्दार्थ

निंदा पसंसासु–निंदा और प्रशंसा में,	**सयण परियण**–स्वजन-परिजन,
समो–समान भाव,	**मणो**–मन,
माणावमाण–मान-अपमान,	**सामाइयसंगओ**–सामायिक से संगत,
कारीसु–करनेवालों में,	**जीवो**–जीव ।

भावार्थ–सामायिक से युक्त जीव निंदा और प्रशंसा में, मान और अपमान करने वालों के प्रति तथा स्वजन एवं परिजन के विषय में समान भाव वाला होता है ।

विवेचन–सामायिक की साधना से युक्त जीवात्मा की अंतरंग साधना का सुंदर वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है ।

काया स्थूल है, अतः काया से पाप प्रवृत्तियों का त्याग करना आसान है ।

सच्ची साधना तो मन की भूमिका पर करने की है । काया से साधना सरल है, किंतु मन से साधना कठिन है ।

मन बड़ा ही चंचल है । शुभ-अशुभ निमित्तों को पाकर वह तुरंत ही विचलित हो जाता है । जैसा बाह्य निमित्त मिलता है उसके अनुरूप मन में शुभ या अशुभ भाव पैदा हो जाते हैं ।

सामायिक सिर्फ काया की साधना नही है, दो घडी तक पाप प्रवृत्तियों का त्याग कर एक आसन पर पलाठी लगाकर बैठ जाना ही सामायिक की साधना नहीं है ।

सामायिक द्वारा मन को जीतना है । चाहे जैसे बाह्य अशुभ निमित्त मिलें, फिर भी मन में लेश भी अशुभ भाव पैदा होने नहीं देना, यह कठिन में कठिन साधना है ।

राग-द्वेष के बाह्य निमित्तों के मिलने के साथ ही मन में राग-द्वेष की तरंगें पैदा हो जाती हैं ।

शांत सरोवर में एक कंकड़ फेंका जाय तो सिर्फ कंकड़ जितनी जगह में ही वह पानी नहीं हिलता है, बल्कि सारे सरोवर के जल में हलचल मच जाती है । बस इसी प्रकार एक छोटे से निमित्त को पाते ही मन एक दम अस्थिर हो जाता है । अपनी निंदा के शब्द कान में गिरते ही मन में क्रोध की आग भड़क उठती है ।

प्रशंसा के थोड़े से शब्द सुनते ही मन प्रफुल्लित बन जाता है ।

किसी ने अपना सम्मान किया हो तो मन आकाश में उछलने लग जाता है ।

किसी ने थोडा सा अपमान कर दिया कडवे शब्द कह दिए और मन आक्रोश से भर जाता है ।

स्वजनों को देख मन आनंदित हो जाता है तो दुश्मन को देख मन चिंतातुर हो जाता है । इस प्रकार मन में विविध तरंगें उठती रहती हैं ।

यह तो मोहाधीन आत्मा की मनःस्थिति की बात हुई, परंतु जो आत्माएँ समता की साधना में लीन बनी होती हैं, उन आत्माओं पर इन बाह्य निमित्तों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता है ।

कोई आकर प्रशंसा के फूल बरसाए या निंदा के कटु शब्द सुनाए तो भी सामायिक की साधक आत्मा की मनःस्थिति में कुछ भी परिवर्तन नहीं आता है ।

ठीक है–

'मान-अपमान ने सम गणे, सम गणे कनक पाषाण रे' !

सामायिक में लीन आत्मा मान और अपमान को तथा सुवर्ण और पत्थर को एक समान गिनती है अर्थात् मान मिलने पर खुश नहीं और अपमान मिलने पर नाराज नहीं ।

'निंदा-स्तुति श्रवण सुनीने, हर्ष शोक नवि आणे' ।

अर्थात् निंदा सुनकर मन में थोड़ी भी नाराजगी नहीं और प्रशंसा सुनकर मन में थोड़ा भी हर्ष नहीं ।

इस जगत् में जितने भी विरोधी द्वन्द्व हैं जैसे मान-अपमान, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, ठंडी-गर्मी, सुवर्ण-पाषाण, सुंदर रूप-कुरूप इन सभी संयोगों में सामायिक में रही आत्मा समभाव में रहती है ।

सामाइयं तु काउं, गिहकज्जं जो चिंतए सड्ढो ।
अट्टवसट्टोवगओ, निरत्थयं तस्स सामाइयं ।।26।।

शब्दार्थ

सामाइयं–सामायिक,
काउं–करके,
गिहकज्जं–गृहकार्य,
जो–जो,
चिंतए–चिंता करता है,
सड्ढो–श्रावक,
अट्टवसट्टो–आर्त्त ध्यान के अधीन,
उवगओ–प्राप्त,
निरत्थयं–निरर्थक,
तस्स–उसकी,
सामाइयं–सामायिक ।

भावार्थ–जो श्रावक सामायिक करके घर की चिंता अर्थात् गृहकार्य करता है, आर्तध्यान के अधीन होता है, उसकी सामायिक निरर्थक है ।

विवेचन–सामायिक अर्थात् सभी जीवों को आत्मतुल्य मानना । जिस प्रकार मुझे सुख प्रिय है और दुःख प्रिय नहीं है उसी प्रकार सभी जीवों को भी सुख प्रिय है और दुःख प्रिय नहीं है । अतः सामायिक परपीड़ा त्याग स्वरूप है । सामायिक द्वारा सावद्य अर्थात् पापकारी-परपीड़ाकारी प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है ।

सामायिक में शत्रु-मित्र, अनुकूलता-प्रतिकूलता, स्वजन-परजन, सुख-दुःख आदि विविध द्वंद्वों में राग-द्वेष का त्याग किया जाता है अर्थात् अनुकूलता, मित्र, स्वजन, सुख की सामग्री को प्राप्तकर राग नहीं करने का है और प्रतिकूलता, शत्रु, परजन, दुःख की सामग्री को प्राप्तकर द्वेष नहीं करने का है । राग-द्वेष करने से सामायिक का भंग हो जाता है । सामायिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की निर्मल आराधना । श्रावक के लिए पापों का संपूर्ण त्याग और जीवन पर्यंत के लिए त्याग संभव नहीं है, फिर भी आजीवन सामायिक के लक्ष्य पूर्वक प्रति दिन सामायिक करते रहना चाहिए ।

मोक्षफलदायी सर्वश्रेष्ठ सामायिक धर्म की आराधना में जुड़ने का सौभाग्य प्राप्त होने पर भी जो श्रावक गृहस्थ जीवन संबंधी गृहकार्य है अथवा इष्ट के वियोग और निष्ट के संयोग को बराबर पार कर अत्यंत ही दुर्ध्यान करता है तो उसकी वह सामायिक की क्रिया निष्फल हो जाती है ।

खेत में बीज बोने के बाद पानी का सिंचन न हो तो वह बीज नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सामायिक की प्रतिज्ञा के स्वीकार बाद सतत सावधानी नहीं रखी जाय तो वह सामायिक की साधना भी निष्फल चली जाती है ।

पडिरूवाई चउदस, खंतिमाइयदसविहो धम्मो ।
बारस य भावणाओ, सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ।।27।।

शब्दार्थ

पडिरूवाई–प्रतिरूप आदि,	**य**–तथा,
चउदस–चौदह,	**भावणाओ**–भावना से,
खंतिमाइय–क्षमा आदि,	**सूरिगुणा**–आचार्य के गुण,
दसविहो धम्मो–दस प्रकार का धर्म	**हुंति**–होते हैं,
बारस–बारह,	**छत्तीसं**–छतीस ।

भावार्थ–प्रतिरूप आदि चौदह, क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म और बारह प्रकार की भावना इस प्रकार आचार्य के 36 गुण होते हैं ।

विवेचन–शास्त्र में आचार्य के 36 गुण 36 प्रकार से बताए गए हैं अर्थात् 36 x 36 = 1296 गुणों के धारक आचार्य भगवंत होते हैं ।

इस गाथा में आचार्य के प्रतिरूप आदि 36 गुण बतलाए हैं ।

प्रतिरूप आदि 14 गुण

1) प्रतिरूप – आचार्य भगवंत की शारीरिक संपदा तीर्थंकर, गणधर तुल्य होती है अर्थात् उनकी मुखाकृति बहुत ही सुंदर होती है । बाल जीवों को रूप का भी एक आकर्षण होता है । आचार्य भगवंत का सुंदर रूप आदि देखकर बाल जीव उनके प्रति आकर्षित हो जाते हैं अतः आचार्य भगवंत का सुंदर रूप अनेक के धर्मबोध में निमित्त बनता है ।

2. तेजस्वी : आचार्य भगवंत अत्यंत ही तेजस्वी होते हैं ।

3. युगप्रधानागम : आचार्य भगवंत वर्तमान काल में विद्यमान सभी आगम शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं अथवा अन्य की अपेक्षा उनका ज्ञान विशिष्ट होता है ।

4. मधुर वाक्य : आचार्य भगवंत की वाणी में खूब मधुरता होती है । भाषा की मधुरता भी अनेक के आकर्षण का कारण बनती है । कटुता से कही बात अस्वीकार्य बनती है तो वही बात मधुर शब्दों से कही जाय तो स्वीकार्य बन जाती है ।

5. गंभीर : सागर में गंभीरता होती है, जबकि नदी में छिछलापन होता है । सागर के तल भाग में अमूल्य रत्न होते हैं फिर भी वह उनका कभी प्रदर्शन नहीं करता है अर्थात् सागर में गंभीरता होती है, उसी प्रकार आचार्य भगवंत भी अत्यंत गंभीर होते हैं ।

अपने जीवन में अनेक विशेषताएँ होने पर भी वे अपने मुँह से उनका वर्णन नहीं करते हैं अर्थात् कभी भी अपनी शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करते हैं और दूसरों के दोष जानने पर भी अपने मुख से उनका वर्णन नहीं करते हैं ।

6. धैर्यवान : कर्मसंयोगों के कारण बाह्य परिस्थितियाँ तो बदलती रहती हैं, परंतु धैर्यवान व्यक्ति का चित्त प्रतिकूल संयोगों में भी निष्प्रकंप होता है ।

जिस प्रकार आँधी आए या तूफान, पर्वत कभी डिगता नहीं है उसी प्रकार चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग खड़े हो जायें परंतु शासन के राजा आचार्य भगवंत का चित्त डिगडिगायमान नहीं होता है ।

7. सन्मार्ग दर्शक : अपनी शरण में आनेवाले को आचार्य भगवंत मधुर वाणी द्वारा सन्मार्ग की राह बताकर धर्म में स्थिर करते हैं ।

8. अप्रतिस्त्रावी : छिद्रवाली बाल्टी में पानी ठहरता नहीं है, परंतु पत्थर या लोहे का छिद्ररहित बर्तन या भाजन हो तो उसमें से पानी बाहर नहीं निकलता है उसी प्रकार आचार्य भगवंत भी किसी के द्वारा कही गई गूढ़ बात को अपने हृदय में स्थिर रखते हैं परंतु किसी को कहते नहीं हैं ।

9. सौम्य : आचार्य भगवंत की मुखाकृति अत्यंत ही शांत और सौम्य होती है, उनकी वाणी में भी पूर्ण सौम्यता होती है ।

10. संग्रहशील : पूज्य आचार्य भगवंत अपने शिष्य परिवार के लिए संयम में सहायक वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का संग्रह करने वाले होते हैं । उन वस्तुओं का संग्रह ममत्व भाव से नहीं किंतु संयम की वृद्धि हेतु ही होता है ।

11. अभिग्रहधारी : पूज्य आचार्य भगवंत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करनेवाले होते हैं । अभिग्रह भी एक प्रकार से तप रूप ही है ।

12. निंदा त्यागी : पूज्य आचार्य भगवंत परनिंदा व आत्मप्रशंसा के त्यागी होते हैं । परनिंदा व आत्मप्रशंसा दोनों ही संयम में बाधक हैं । दूसरों की निंदा करने से वे दोष अपने में ही पुष्ट होते हैं ।

13. स्थिर स्वभाव : आचार्य भगवंत के स्वभाव में चपलता-चंचलता नहीं होती है । किसी भी कार्य को वे स्थिरता पूर्वक करते हैं ।

14. प्रशांतहृदय : आचार्य भगवंत क्रोध के विजेता होने से उनका मन (हृदय) एकदम शांत होता है । मन में अमाप शांति होने से उनकी वाणी और व्यवहार में भी आक्रोश का अभाव होता है ।

क्षमा आदि 10 धर्म के पालक

1. क्षमा :- दूसरे के आक्रोश आदि को सहन करने के अध्यवसाय को क्षमा कहते हैं, अर्थात् सभी प्रकार से क्रोध को निष्फल करना ।

2. मार्दव :- गुरु, गुण रत्नाधिक आदि के प्रति अत्यंत ही नम्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं, पुण्योदय से प्राप्त ज्ञान तप आदि शक्तियों का भी अभिमान नहीं करते ।

3. आर्जव :- मन में किसी भी प्रकार की माया या कपटपूर्ण व्यवहार नहीं करना । बाह्य व्यवहार में भी सरलता रखना ।

4. संतोष :- बाह्य पदार्थ और अभ्यंतर (काम-क्रोध आदि) भावों के प्रति तृष्णा के छेद रूप लोभ का अभाव ।

5. तप : जिससे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का शोषण हो उसे तप कहते है । बाह्य व अभ्यंतर के भेद से तप के 12 भेद है ।

6. संयम : आस्त्रव के द्वारों को बंद करना अर्थात् नवीन कर्मों का बंध न हो ऐसी प्रवृत्ति करना, उसे संयम कहते हैं ।

7. सत्य :- किसी भी संयोग में झूठ का सर्वथा त्याग करना-उसे सत्य कहते हैं ।

8. शौच :- मन को निर्मल बनाने की क्रिया को शौच कहते हैं । देह की शुद्धि को बाह्य शौच व मन की निर्मलता को अभ्यंतर शौच कहते हैं ।

9. अकिंचनता :- शरीर व संयम के उपकरणों में भी ममत्व भाव का त्याग करना ।

10. ब्रह्मचर्य :- ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ के पालनपूर्वक स्पर्शनेन्द्रिय के संयम को ब्रह्मचर्य कहते हैं ।

12 भावनाओं से आत्मा को भावित करने वाले

1. अनित्य भावना :- बाह्य ऋद्धि, देह व आरोग्य आदि सभी अनित्य नाशवंत हैं अतः उनके वियोग में किसी प्रकार का दुर्ध्यान नहीं करना ।

2. अशरण भावना :- जन्म-जरा और मृत्यु से युक्त इस संसार में जिनवचन को छोड़ अन्य कोई भी पदार्थ आत्मा के लिए शरणभूत नहीं है इस प्रकार आत्मा को भावित करना ।

3. एकत्व भावना :- इस संसार में आत्मा अकेले ही जन्म लेती है और अकेली ही मौत की शिकार बनती है ।

4. अन्यत्व भावना :- अपनी आत्मा देह, स्वजन आदि से सर्वथा भिन्न है अतः उनमें ममत्व भाव का त्याग करना चाहिए ।

5. अशुचित्व भावना : मानव शरीर अशुचि का घर है । शरीर की उत्पत्ति का आदि कारण भी अशुचि से भरा हुआ है अतः इस अशुचिमय देह के प्रति ममत्व नहीं रखना ।

6. संसार भावना :- संसार में एक ही जीव माता-पुत्र-पुत्री आदि के रूप में पैदा होता है ।

7. आस्त्रव भावना :- मिथ्यात्व, अविरति आदि के कारण आत्मा में कर्मों का आगमन होता है उसे आस्त्रव कहते हैं । आस्त्रव के द्वारों से बचने के उपायों का चिंतन करना ।

8. संवर भावना :- आत्मा में कर्म के आगमन को रोकने के उपायों को संवर कहते हैं । समिति, गुप्ति, परिषह, यतिधर्म तथा भावना आदि संवर के 57 भेद हैं ।

9. निर्जरा भावना :- आत्मा पर लगे हुए कर्मों को दूर करने के उपायों का चिंतन करना, उसे निर्जरा भावना कहते हैं । निर्जरा के कुल 12 भेद हैं ।

10. लोक स्वरूप भावना :- चौदह राजलोक प्रमाण विश्व के स्वरूप का चिंतन करना, उसे लोकस्वरूप भावना कहते हैं ।

11. धर्म भावना :- जगत् के जीवों के हित के लिए तारक परमात्मा ने दान, शील, तप और भाव रूप जो चार प्रकार का धर्म बतलाया है, उसके स्वरूप का चिंतन करना धर्म भावना है ।

12. बोधिदुर्लभ भावना :- इस विश्व में परिभ्रमण कर रही आत्मा को बोधि अर्थात् जिन धर्म की प्राप्ति अत्यंत ही दुर्लभ है । इस प्रकार चिंतन करना उसे बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं ।

पूज्य आचार्य भगवंत का अंतःकरण इन भावनाओं से भावित होता है । इस प्रकार आचार्य भगवंत के 36 गुण बतलाए हैं ।

क्षमा

मुर्दे को जला देना बहुत जरूरी है ।
उसे ज्यादा देर तक पड़ा रखने से बदबू फैलती है
और रोग का फैलाव होता है । बस, क्रोध पैदा होते
ही उसे 'क्षमा' के जल से शांत कर देना चाहिए ।
अन्यथा वह क्रोध वैर की बदबू और भवभ्रमण
के रोग को पैदा किए बिना नहीं रहेगा ।

छव्वय छकाय रक्खा, पंचिंदिय लोहनिग्गहो खंती ।
भावविसुद्धी पडिलेहणाइ, करणे विसुद्धी य ।।28।।
संजमजोए जुत्तो, अकुसल मण वयण काय संरोहो ।
सीसाइ पीडसहणं, मरणं उवसग्ग सहणं च ।।29।।
सत्तावीस गुणेहिं, एएहिं जो विभूसिओ साहू ।
तं पणमिज्जइ, भत्तिब्भरेण हियएण रे जीव ।।30।।

शब्दार्थ

छव्वय–छह व्रत,
छकाय रक्खा–छह काय का रक्षण,
पंचिंदिय–पाँच इन्द्रियाँ,
लोहनिग्गहो–लोभ का निग्रह,
खंती–क्षमा,
भावविसुद्धी–भाव की विशुद्धि,
पडिलेहणाइ–प्रतिलेखना आदि,
करणे–करने में,
संजम जोए–संयम योग्य,
जुत्तो–युक्त,
अकुसल–खराब,
मण वयण काय–मन वचन और काया
संरोहो–रोकना,
सीसाइ–शीत आदि,
पीडसहणं–पीडा सहन करना,
मरणं–मरणांत,
उवसग्ग–उपसर्ग,
सहणं-सहन करना,
सत्तावीस गुणेहिं–सत्ताइस गुणों से
एएहिं–इन,
जो–वह
विभूसिओ–अलंकृत,
साहू–साधु,
तं–उसको,
एएहिं–इन,
पणमिज्जइ–प्रणाम करना चाहिए,
भत्तिब्भरेण–भक्ति से भरे हुए,
हियएण–हृदय से,
रे जीव–हे जीव !

भावार्थ–छह व्रतों का पालन, छह काय जीवों की रक्षा, पाँच इन्द्रियों और लोभ का निग्रह, क्षमा, भाव विशुद्धि, प्रतिलेखना आदि करने में विशुद्धि, संयम योग युक्त, अकुशल मन, वचन और काया का निरोध, सर्दी आदि की पीडा को सहन करना तथा मरणांत उपसर्गों को भी समता पूर्वक सहन करना- इन 27 गुणों से विभूषित जो साधु है, हे जीव ! उसको तुम भक्ति भावपूर्वक हृदय से प्रणाम करो ।

विवेचन–साधु भगवन्त स्वयं मोक्षमार्ग की साधना करते हैं और भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ाने में सहायता करते हैं । साधु भगवन्त कंचन और कामिनी के त्यागी होते हैं । महाव्रतों का सुन्दर ढंग से पालन कर धर्मोपदेश देकर भव्य जीवों को भी सर्वविरति और देशविरति धर्म का पालन करवाते हैं ।

साधु भगवन्त सर्व संगों का त्याग कर निःस्पृह जीवन जीते हैं । मोक्षमार्ग के लिए सर्व त्याग अनिवार्य है । साधु भगवन्त अपने निःस्पृह जीवन द्वारा अन्य जीवों के भी सर्वसंगत्याग में निमित्त बनते हैं और इस प्रकार मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिए आलम्बन देते हैं ।

साधु भगवन्त के 27 गुण

साधु भगवंत के निम्नोक्त 27 गुण बतलाये गये हैं–

(1 से 5) पाँच महाव्रतों का पालन : साधु भगवन्त पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं ।

1. सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत : मन-वचन तथा काया से हिंसा करना नहीं, दूसरे से करवाना नहीं और करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना ।

2. सर्वथा मृषावाद विरमण महाव्रत : मन-वचन काया से झूठ बोलना नहीं, दूसरे से बुलवाना नहीं और झूठ बोलते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना ।

3. सर्वथा स्तेय विरमण महाव्रत : मन-वचन तथा काया से चोरी करना नहीं, दूसरे से करवाना नहीं और करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना ।

4. सर्वथा मैथुन विरमण महाव्रत : मन-वचन तथा काया से सर्वथा अब्रह्म का सेवन करना नहीं, दूसरे से सेवन करवाना नहीं और सेवन करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना ।

5. सर्वथा परिग्रह विरमण महाव्रत : मन-वचन तथा काया से परिग्रह रखना नहीं, रखवाना नहीं और रखते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना ।

6. रात्रि भोजन का त्याग : सूर्यास्त के बाद तथा सूर्योदय के 48 मिनिट तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना ।

(7 से 12) छह काय की रक्षा : साधु भगवन्त निम्नोक्त छह काय के जीवों की रक्षा करते हैं ।

(1) पृथ्वीकाय : पृथ्वी शरीरधारी एकेन्द्रिय जीव ।

(2) अप्काय : जल शरीरधारी एकेन्द्रिय जीव ।

(3) तेउकाय : अग्नि शरीरधारी एकेन्द्रिय जीव ।

(4) वाउकाय : पवन शरीरधारी एकेन्द्रिय जीव ।

(5) वनस्पतिकाय : वनस्पति शरीरधारी एकेन्द्रिय जीव ।

(6) त्रसकाय : द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव ।

(13 से 17) पाँच इन्द्रियों पर संयम : साधु भगवन्त पाँच इन्द्रियों को अपने वश में रखते हैं । जैसे-

(1) स्पर्शनेन्द्रिय : त्वचा के विषयभूत गद्दे, तकिया, कामिनी के स्पर्श आदि का त्याग करते हैं ।

(2) रसनेन्द्रिय : जीभ के विषयभूत स्वादिष्ट पदार्थों की आसक्ति का त्याग करते हैं ।

(3) घ्राणेन्द्रिय : नाक के विषयभूत इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों के सेवन का त्याग करते हैं ।

(4) चक्षुरिन्द्रिय : आँख के विषयभूत स्त्री आदि के रमणीय रूप आदि देखने का त्याग करते हैं ।

(5) श्रोत्रेन्द्रिय : कान के विषयभूत मधुर संगीत आदि की आसक्ति का त्याग करते हैं ।

(18 से 20) तीन गुप्ति का पालन–

(1) मनोगुप्ति : मन को वश में रखना ।

(2) वचनगुप्ति : वाणी को वश में रखना ।

(3) कायगुप्ति : काया को वश में रखना ।

21. लोभ त्याग : किसी भी बाह्य पदार्थ का लोभ नहीं करना ।

22. क्षमा : क्रोध के प्रसंग में भी क्षमा रखना ।

23. चित्त-निर्मलता : चित्त को शुभ भाव में जोड़ना ।

24. वस्त्र-प्रतिलेखना : प्रतिदिन जीवरक्षा के लिए दो बार वस्त्रों की प्रतिलेखना करना ।

25. संयम पालन : अविवेक का त्याग कर विवेकयुक्त प्रवृत्ति करना ।

26. परिषह सहन : 22 प्रकार के कष्टों को समतापूर्वक सहन करना ।

27. उपसर्ग सहना : देव-मनुष्य और तिर्यंच कृत उपसर्गों को सहन करना ।

हे जीव ! उपर्युक्त 27 गुणों से युक्त साधु भगवन्त होते हैं । ऐसे महान् साधु भगवन्तों को नमस्कार करना चाहिए ।

सच्ची बहादुरी !

प्रतिकार करने में जो शक्ति चाहिए,
उससे भी अधिक शक्ति सहन करने में चाहिए ।
किसी का सामना करना कोई बहादुरी नहीं है,
परंतु किसी के अपकार को भी सहन कर लेना
उसी में सच्ची बहादुरी है ।

धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो ।
लोगप्पिओ अकूरो, भीरु असढो सुदक्खिण्णो ।।31।।
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठि गुणरागी ।
सक्कह सुपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ।।32।।
वुड्ढाणुगो विणीओ, कयण्णुओ परहियत्थकारी य ।
तह चेव लद्धलक्खो, इगवीस गुणेहिं संपन्नो ।।33।।

शब्दार्थ

धम्मरयणस्स–धर्म रत्न के,
जुग्गो–योग्य,
अक्खुद्दो–अक्षुद्र,
रूववं–रूपवान,
पगइसोमो–प्रकृति से सौम्य,
लोगप्पिओ–लोकप्रिय,
अकूरो–अक्रूर,
भीरु–पापभीरु,
असढो–अमायावी,
सुदक्खिण्णो–सुदाक्षिण्य,
लज्जालुओ–लज्जावान,
दयालू–दयावान,
मज्झत्थो–मध्यस्थ,
सोमदिट्ठि–शांतदृष्टि,
गुणरागी–गुणानुरागी,
सक्कह–सत्कथक,
सुपक्खजुत्तो–सुपक्षयुक्त,
सुदीहदंसी–सुदीर्घदृष्टि,
विसेसन्नू–विशेषज्ञ,
वुड्ढाणुगो–वृद्धानुसारी,
विणीओ–विनीत,
कयण्णुओ–कृतज्ञ,
परहियत्थकारी–परोपकारी,
तह–तथा,
लद्धलक्खो–लब्धलक्ष्य,
इगवीस गुणेहिं–इक्कीस गुणों से,
संपन्नो–संपन्न ।

भावार्थ–अक्षुद्र, रूपवान, प्रवृत्ति से सौम्य, लोकप्रिय, अक्रूर, पापभीरु अमायावी, सुदाक्षिण्य, लज्जालु, मध्यस्थ, सौम्यदृष्टि, गुणानुरागी, सत्कथक, सुपक्षयुक्त, दीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, वृद्धानुसारी, विनीत, कृतज्ञ, परोपकारी और लब्धलक्ष्य वाला इन इक्कीस गुणों से संपन्न व्यक्ति धर्मरत्न को पाने के लिए योग्य कहलाता है ।

विवेचन–इस समूचे विश्व में धर्म का lable लगानेवाले धर्म तो बहुत हैं परंतु उन सभी धर्मों में सर्वश्रेष्ठ धर्म वीतराग-प्ररूपित-सर्वज्ञकथित जैन धर्म ही है । सभी धर्मों में जैनधर्म रत्नतुल्य होने से उसे `धर्मरत्न' कह सकते हैं ।

जिस प्रकार मूल्यवान रत्न को पाने के लिए अपने पास में धन-संपत्ति होना जरूरी है । जिसके पास में अधिक प्रमाण में धन नहीं है, वह व्यक्ति कीमती रत्न को प्राप्त नहीं कर सकता है । उसी प्रकार सद्धर्म रूपी रत्न को पाने के लिए गुणसंपत्ति होना जरूरी है ।

जिस प्रकार दरिद्र व्यक्ति के भाग्य में रत्न नहीं होता है उसी प्रकार गुणहीन व्यक्ति के भाग्य में भी सद्धर्म रूपी रत्न नहीं होता है ।

सद्धर्म रत्न को पाने के लिए जीवन में इन गुणों को आत्मसात् करना जरूरी है अर्थात् इन गुणों से युक्त व्यक्ति ही अपने जीवन में सद्धर्म रूपी रत्न को हासिल कर सकता है ।

21 गुण

1. अक्षुद्र :- क्षुद्र अर्थात् तुच्छ । अक्षुद्र अर्थात् गंभीर । सागर में गंभीरता होती है जबकि नदी में तुच्छता । सागर के तल भाग में अनेक रत्न होते है फिर भी वह अपने रत्नों का प्रदर्शन नहीं करता है अर्थात् वह गंभीर होता है ।

जिसमें तुच्छता होती है उसे दूसरों के दोष जल्दी नजर आते हैं । इतना ही नहीं, वह दूसरे के दोषों को पचा नहीं पाता है । वह तुरंत ही दूसरों के आगे निंदा प्रारंभ कर देता है ।

अक्षुद्र व्यक्ति ही स्व-पर का उपकार करने में समर्थ होता है इसलिए अक्षुद्र अर्थात् सूक्ष्मदर्शी को ही धर्म की प्राप्ति के योग्य कहा गया है ।

2. रूपवान : सद्धर्म की आराधना-साधना के लिए पाँच इन्द्रियों की पूर्णता भी खूब जरूरी है । विकलांग व्यक्ति धर्म की आराधना अच्छी तरह से नहीं कर पाता है । जिनवाणी के श्रवण के लिए कान, प्रभुदर्शन के लिए आँख, देव व गुरु की स्तवना के लिए जीभ, दान के लिए हाथ और तीर्थयात्रा आदि के लिए पाँव खूब जरूरी हैं ।

3. सौम्य प्रकृति : जिसका स्वभाव शांत होता है, ऐसा व्यक्ति सद्धर्म की आराधना आसानी से कर पाता है । जिसके स्वभाव में उग्रता होती है, वह हिंसादि पापों में जल्दी प्रवृत्त होता है । क्रूर व कठोर व्यक्ति से संपर्क करने में दूसरों को डर लगता है जबकि सौम्य-शांत व्यक्ति सभी को प्रिय लगता है । अतः शांत प्रकृतिवाला व्यक्ति सद्धर्म की प्राप्ति के लिए योग्य है ।

4. लोक प्रियता : लोकोत्तर ऐसे सद्धर्म की प्राप्ति के लिए लोकप्रिय बनना भी खूब जरूरी है ।

लोकप्रिय बनने के उपाय हैं–

1. इस लोक के विरुद्ध निंदनीय प्रवृत्ति का त्याग करना ।

2. परलोक विरुद्ध मांसाहार-मदिरापान-वेश्यागमन-जूआ-गर्भपात आदि पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना ।

3. दान धर्म की आराधना-सुपात्रदान-अंनुकंपादान आदि करना ।

4. विनयगुण की आराधना-देव-गुरु-माता-पिता व उपकारी का विनय करना ।

5. शीलसंपन्नता-शील-सदाचार का पालन करना, अपने चारित्र पर दाग लगे, ऐसी प्रवृत्तियों का त्याग करना ।

5. अक्रूरता : ईर्ष्यालु का चित्त संक्लेश रहित हो नहीं पाता है । दूसरे के उत्कर्ष को देखकर मन ही मन जलने वाला व्यक्ति सद्धर्म की प्राप्ति के अयोग्य कहलाता है । क्रूर व्यक्ति प्रसंग आने पर किसी की हत्या भी कर सकता है । क्रूर व्यक्ति छिद्रान्वेषी होता है, वह दूसरों के दोष देखता रहता है ।

6. पापभीरुता : दुनिया दुःख से घबराती है, जबकि धर्मी आत्मा को दुःख के कारण स्वरूप पाप का भय होता है ।

साँप का जहर तो एक ही जीवन का अंत लगता है जब कि पाप तो आत्मा को दीर्घ काल तक संसार में भटकाता है । जिस आत्मा को पाप का भय नहीं है धर्म की प्राप्ति के योग्य नहीं है ।

7. सरलता : जिसके जीवन में सरलता होती है, वही सद्धर्म के योग्य कहलाता है । मायावी व्यक्ति का बाह्य व्यवहार कुछ होता है और मन में कुछ और होता है । मुख में राम बगल में छुरी जैसा मायावी होता है ।

जिसके जीवन में सरलता है, वही व्यक्ति अपने मन या आत्मा को शुद्ध कर सकता है ।

8. सुदाक्षिण्य : सुदाक्षिण्य गुणवाला सामनेवाले की प्रार्थना का भंग नहीं करता है । वह अपने कार्य को गौण करके भी दूसरे के कार्य को प्रधानता देता है । इस कारण उसका वचन सभी को ग्राह्य होता है ।

9. लज्जा : लज्जालु व्यक्ति पाप करते हुए घबराता है । निर्लज्ज व्यक्ति को किसी भी प्रकार का पाप करते हुए शर्म नहीं आती है ।

लज्जालु व्यक्ति प्राणांत कष्ट आने पर भी अपनी की हुई प्रतिज्ञा का भंग नहीं करता है ।

सत्कार्य में लज्जा दोष रूप है । पूजा में धोती-खेश पहिनने में लज्जा नहीं आनी चाहिए ।

10. दया : दया तो धर्म का मूल है । जिनागम में सभी अनुष्ठान दया पूर्वक ही करने का विधान है । इसी कारण दयालु व्यक्ति को सद्धर्म की आराधना के लिए योग्य कहा गया है ।

दया अर्थात् अनुकंपा । दूसरे के दुःख को देखकर द्रवित हो जाना, उसे दया कहते हैं । सम्यक्त्व के भी पाँच लक्षणों में एक लक्षण अनुकंपा कहा है अर्थात् जिसके जीवन में अनुकंपा नहीं, उसके जीवन में सम्यक्त्व नहीं ।

11. मध्यस्थ सौम्यदृष्टि : सद्धर्म के मर्म को जानने-समझने के लिए मध्यस्थ दृष्टि खूब जरूरी है । कद्राग्रही व्यक्ति सत्य को सरलता से स्वीकार नहीं कर पाता है । मध्यस्थ व्यक्ति ही सत्य-असत्य का विवेक कर सत्य को स्वीकार करने और असत्य के त्याग के लिए प्रयत्न कर सकता है ।

12. गुणानुराग : जो व्यक्ति गुण का अनुरागी होगा वह व्यक्ति गुणवान व्यक्ति का आदर-बहुमान कर सकता है ।

गुणानुरागी व्यक्ति की दृष्टि सामनेवाले व्यक्ति में रहे गुणों को ही

देखती है । वह दोषों की उपेक्षा करती है । गुणानुरागी व्यक्ति गुणों के संग्रह में प्रयत्नशील रहता है और प्राप्त गुणों को मलिन नहीं करता है ।

गुणवान बनने के लिए गुणानुरागी बनना खूब जरूरी है ।

13. सत्कथक : स्त्री आदि चार प्रकार की विकथाएँ मन को कुलुषित करती हैं, जिससे विवेक नष्ट हो जाता है, अतः धर्म के अभिलाषी व्यक्ति को विकथाओं का सर्वथा त्याग करना चाहिए और देव-गुरु धर्म संबंधी सत्कथाओं का ही उपयोग करना चाहिए ।

14. सुपक्षयुक्त : सद्धर्म की आराधना-उपासना के लिए अनुकूल परिवार का होना भी खूब जरूरी है । यदि परिवार में समान विचारधारा न हो तो धर्म की आराधना करने में खूब कठिनाई आती है । परिवार में समान विचारधारा न हो तो धर्म के अनुकूल परिवार की प्राप्ति भी पुण्य के ही अधीन है ।

15. दीर्घदर्शी : दीर्घदर्शी व्यक्ति ही किसी भी वस्तु के परिणाम का विचार करता है । सद्धर्म की आराधना के लिए दीर्घदर्शी बनना खूब जरूरी है । विषयुक्त मोदक से सुधातृप्ति होती है परंतु परिणाम तो मौत ही है । दीर्घदर्शी व्यक्ति परिणाम में हानिकारक प्रवृत्ति से सदैव दूर रहता है । पाप प्रवृत्ति से सदैव दूर रहता है । पाप प्रवृत्ति का फल तत्काल तो सुखदायी किंतु परिणाम में तो दुःखदायी ही होता है अतः दीर्घदर्शी व्यक्ति आत्मा के लिए अहितकर ऐसी पाप प्रवृत्तियों में कभी प्रवृत्त नहीं होता है ।

16. विशेषज्ञ : विशेषज्ञ व्यक्ति पक्षपातरहित होकर वस्तु के गुणदोषों को जानता है, इस कारण विशेषज्ञ व्यक्ति ही सद्धर्म के योग्य कहलाता है । विशेषज्ञ ही जड़ और चेतन के भेद को जान सकता है ।

17. वृद्धानुसारिता : युवाओं के पास शारीरिक बल होता है तो वृद्धों के पास अनुभव ज्ञान होता है । परिपक्व बुद्धिवाले वृद्धों का अनुसरण किया जाये तो व्यक्ति अनेक पापों से अपने आप को बचा सकता है । मानव मन पर संगति का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है । ज्ञानवृद्ध पुरुषों की संगति अनेक पापों से बचाती है ।

18. विनय : सभी गुणों का मूल विनय है । विनीत व्यक्ति ही धर्म के योग्य कहा गया है । जिस प्रकार छिद्रवाली बाल्टी में जल टिकता नहीं है उसी प्रकार विनय रहित व्यक्ति के जीवन में ज्ञान टिकता नहीं है ।

अहंकार आत्मा का भयंकर रोग है । शारीरिक रोगों से स्वास्थ्य की हानि होती है उसी प्रकार अहंकार से आत्मगुणों की हानि होती है ।

19. कृतज्ञता :- कृतज्ञ व्यक्ति ही अपने उपकारी के उपकार को याद कर उन्हें आदर देता है । उपकारी का विनय करने से ज्ञान आदि गुणों की प्राप्ति होती है । जो व्यक्ति उपकारी के उपकार को भूल जाता है वह कृतघ्न व्यक्ति पृथ्वी पर भारभूत ही है ।

20. परोपकार : मानव को प्राप्त तन, मन और धन की शक्तियों की सफलता परोपकार की प्रवृत्ति में है । परोपकार गुण वाला सद्धर्म की आराधना के लिए योग्य कहा गया है । प्रकृति के सभी तत्त्व सूर्य, चंद्र, सागर, वृक्ष, फूल, नदी आदि हमें परोपकार की ही प्रेरणा देते हैं ।

21. लब्ध लक्ष्य : निर्धारित लक्ष्यवाला सुखपूर्वक सभी धर्मानुष्ठानों को जान सकता है, ऐसा व्यक्ति दक्ष और शीघ्र सुशिक्षित होता है ।

मानव जीवन में अर्थ और काम तो नाम के पुरुषार्थ कहलाते हैं । सच्चा पुरुषार्थ मोक्ष ही है । उस मोक्ष के उपाय रूप धर्म पुरुषार्थ है ।

जिसने अपने जीवन में लक्ष्य का ही निर्धार नहीं किया है, उसका तो जन्म ही निरर्थक माना गया है ।

उपर्युक्त 21 गुणों से युक्त व्यक्ति ही धर्म रूपी रत्न को पाने के योग्य माना गया है ।

कथं अम्हारिसा पाणी, दूसमा-दोसदूसिआ ।
हा अणाहा कहं हुंता, न हुंतो जइ जिणागमो ।।34।।

शब्दार्थ

कथं–कैसे,	**अणाहा**–अनाथ,
अम्हारिसा–हमारे जैसे,	**कहं**–कैसे,
पाणी–प्राणी,	**हुंतो**–होते,
दूसमा-दोसदूसिआ–दुषम दोष से दूषित,	**न हुंता**–नहीं होते,
हा–खेद है,	**जइ**–यदि,
	जिणागमो–जिन आगम ।

भावार्थ–अवसर्पिणीकाल के पाँचवें आरे-दुःषमकाल के दोषों से दूषित बने हुए हमारे जैसे जीव, खेद है यदि जिनागम नहीं होते तो हमारी क्या हालत होती ?

विवेचन–मानव मन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से खूब प्रभावित होता है । शुभ द्रव्य, क्षेत्र आदि का संयोग होता है तो मन में शुभ भाव पैदा होते हैं और अशुभ द्रव्यादि का संयोग हो तो मन में अशुभ भाव पैदा होता है ।

मानव मन काल के प्रभाव से भी अछूता नहीं है । जब इस भरत क्षेत्र में युगलिक काल होता है, तब हर युगलिक के मन में शुभ भाव होते हैं, कहीं कोई कलह-क्लेश दिखाई नहीं देता है । न कहीं लड़ाई-झगड़ा, न कहीं मार-पीट ! काल के प्रभाव से कहीं किसी में थोड़ी भी कषाय की आग देखने को नहीं मिलती है परंतु ज्योंही पाँचवाँ व छठा आरा आता है, जीवों में पाप प्रवृत्तियाँ स्वतःबढ़ जाती हैं, छोटी-छोटी बात को लेकर लड़ाई-झगड़े खड़े हो, जाते हैं, कषायों की आग प्रबल हो जाती है । हुंडा अवसर्पिणी काल का यह पाँचवाँ आरा अर्थात् दुःषम काल है एक और दुःख की बहुलता है तो दूसरी ओर ज्ञान-चारित्र की भी हानि होती जा रही है ।

इस काल में न तीर्थंकर का अस्तित्व है, न गणधर का, न चौदह पूर्वधर महर्षि हैं और न ही पूर्वधर महात्मा है ।

फिर भी हमारा परम सौभाग्य है कि इस पंचम काल में हमें तारक

तीर्थंकर परमात्मा का शासन प्राप्त हुआ है और इसी शासन के साथ वीतराग वाणी स्वरूप जिनागमों की प्राप्ति हुई है ।

इस विषम काल में जिनबिंब और जिनागम ही परम आधार स्वरूप हैं ।

जिनागमों के आधार पर प्रभु के मार्ग का स्पष्ट ख्याल आता है ।

इस पंचम काल में हमें यदि जिनागमों की प्राप्ति नहीं हुई होती तो सचमुच हम अनाथ हो जाते ।

इस काल में जिनागम ही तो हमारी आत्मा का रक्षण करने में पूर्णतया समर्थ है ।

संसारी जीव चर्म चक्षु से बाह्य मार्ग को देखते हैं । केवली भगवन्त अपने केवलज्ञान रूपी चक्षु द्वारा जगत् को देखते हैं तो अवधिज्ञानी देवता अपने अवधिज्ञान के बल से पदार्थ को देखते-जानते हैं ।

संयमधर मुनि को अपना मोक्षमार्ग देखने के लिए शास्त्र-चक्षु ही परम आधार है । **आगमचक्खू साहू ।**

हे प्रभो ! इस कलियुग में हमें जिनागम नहीं मिले होते तो सचमुच हम अनाथ हो जाते ।

कठिन क्या ?

उपवास करना सरल है किंतु ऊनोदरी रखना कठिन है ।
मौन रहना सरल है किंतु मर्यादित बोलना कठिन है ।
कइयों को बोलना तो आता है, परंतु क्या,
कितना और कैसे बोलना, नहीं आता है ।
इस कारण बोलकर भी व्यक्ति
अपनी बाजी बिगाड़ लेता है ।

आगमं आयरंतेणं, अत्तणो हियकंखिणा ।
तित्थनाहो गुरु धम्मा, सव्वे ते बहुमन्निया ।।35।।

शब्दार्थ

आगमं–आगम का,	**गुरु**–सद्गुरु,
आयरंतेणं–आदर देने वाले ने	**धम्मा**–धर्म,
अत्तणो–आत्मा का,	**सव्वे**–सभी,
हियकंखिणा–हितकांक्षी,	**ते**–उसने,
तित्थनाहो–तीर्थंकर,	**बहुमन्निया**–बहुमान किया है ।

भावार्थ–आगमों का आदर करने के द्वारा आत्मा के हितकांक्षी ने देव, गुरु और धर्म सभी का बहुमान किया है ।

विवेचन–इस कलियुग में भवसागर से पार उतरने के लिए दो सर्व श्रेष्ठ आलम्बन बताए हैं जिन प्रतिमा और जिनवाणी ।

जिन-प्रतिमा से परमात्मा की वीतरागता का बोध होता है तो जिन वाणी से प्रभु के द्वारा बताए हुए मुक्ति के मार्ग का बोध होता है ।

तारक परमात्मा शासन की स्थापना केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद करते हैं परंतु शासन तो श्रुतज्ञान के बल पर ही चलता है ।

श्रुतज्ञान के बल से लाई हुई निर्दोष भिक्षा को केवली भी ग्रहण कर लेते हैं, भले ही केवली की दृष्टि से वह भिक्षा दूषित क्यों न हो ।

जिनागम यह तो प्रभु की वाणी का शब्द देह है । उस शब्द का बहुमान परमात्मा का ही बहुमान है और उस शब्द देह स्वरूप जिनागम की आशातना परमात्मा की ही आशातना है ।

जिस प्रकार किसी देश के राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री या राजा के सम्मान में उस राष्ट्र का ही सम्मान है और उनके अपमान में उस राष्ट्र का ही अपमान है, उसी प्रकार एक जिनागम के बहुमान में देव-गुरु और धर्म का बहुमान है और जिनागम के अनादर में समग्र तत्त्वत्रयी का अपमान है ।

आगम के बहुमान में सद्गुरु और जिन धर्म का बहुमान है ।

जिनागम के एक वचन का भी अनादर या लोप करनेवाला निह्नव ही कहलाता है । जमाली के दिल में प्रभु के हर वचन पर श्रद्धा थी परंतु प्रभु के कडेमाणे कडे वचन को स्वीकार नहीं करता था तो वह सम्यक्त्व से भ्रष्ट बना, जिसके फलस्वरूप उसे दुर्गति में भी जाना पड़ेगा ।

सुहसीलाओ सच्छंदचारिणो वेरिणो सिवपहस्स ।
आणाभट्ठाओ बहुजणाओ मा भणह संघत्ति ।।36।।

शब्दार्थ

सुहसीलाओ–सुखशील,
सच्छंदचारिणो–सच्छंदचारिणो,
वेरिणो–दुश्मन,
सिवपहस्स–मोक्षमार्ग के,
आणाभट्ठाओ–आज्ञाभ्रष्ट,
बहुजणाओ–बहुजन,
मा–नहीं,
भणह–कहो,
संघत्ति–संघ इस प्रकार ।

भावार्थ–सुखशील, स्वच्छंदचारी, शिवपथ का वैरी तथा जो आज्ञा भ्रष्ट हो, वहाँ बहुमत हो तो भी वह संघ नहीं कहलाता है ।

विवेचन–जैन शासन में बहुमत या सर्वानुमति को स्थान नहीं है परंतु शास्त्रमति या सत्यमति की महत्ता है । 50 व्यक्ति मिल जायें इतने मात्र से कभी असत्य सत्य नहीं बन जाता है ।

साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप संघ वही कहलाता है जो प्रभु आज्ञा से जुड़ा हो, जो प्रभु आज्ञा से भ्रष्ट हो अर्थात् प्रभु आज्ञा से विपरीत दिशा में चलते हो प्रभु आज्ञा की उपेक्षा करते हों तो वहाँ अनेक लोगों का समूह हो तो भी वह संघ नहीं कहलाता है ।

जिसे मोक्षमार्ग से कोई लेना-देना नहीं हो अर्थात् जिसे मोक्षमार्ग पर चलने की लेश भी चिंता नहीं हो अर्थात् **'मैं जो क्रियाएँ कर रहा हूँ, वे मोक्षमार्ग में साधक हैं या बाधक ?'** ऐसा लेश भी विचार न करता हो अर्थात् जो मोक्षमार्ग से विपरीत ही प्रवृत्ति करता है । जो स्वच्छंद प्रवृत्तिवाले हों जो सुखशील हों अर्थात् भौतिक सुखों के सेवन में आसक्त हों, ऐसे सैकड़ों लोग मिल जायें तो भी वह संघ नहीं कहलाता है ।

धर्मविरुद्ध, मर्यादा विरुद्ध व आचार विरुद्ध प्रवृत्ति करने वालों का टोला हो तो भी उसे संघ नहीं कह सकते हैं ।

जिनाज्ञा को शिरोधार्य करने वाला संघ तो माता-पिता समान है और जो जिनाज्ञा से बाह्य हो वह संघ तो साँप से भी ज्यादा भयंकर कहलाता है । साँप के कारण तो एक ही जीवन का अंत होता है, जब कि जिनाज्ञा से विपरीत प्रवृत्ति करने से तो अनेक भवों की परंपरा बढ़ जाती है ।

प्रभु की आज्ञा से भ्रष्ट व्यक्ति तो जिनशासन का वैरी ही है । वह अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति द्वारा अपनी आत्मा के संसार को ही बढ़ाता है ।

एगो साहू एगा य, साहूणी सावओ य सड्ढी य ।
आणाजुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठिसंघाओ ।।37।।

शब्दार्थ

एगो–एक,	**सड्ढी**–श्राविका,
साहू–साधु,	**आणाजुत्तो**–आज्ञा से युक्त,
एगा–अकेली,	**संघो**–संघ,
य–तथा	**सेसो**–शेष
साहूणी–साध्वी,	**पुण**–पुनः
सावओ–श्रावक,	**अट्ठिसंघाओ**–हड्डियों का समूह ।

भावार्थ–एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक और एक श्राविका भी यदि आज्ञा से युक्त है तो वह संघ कहलाता है । आज्ञा से रहित तो हड्डियों का समूह ही है ।

विवेचन–संघ अर्थात् समूह ! परंतु लोगों के समूह को संघ नहीं कहा जाता है । वह संघ प्रभु की आज्ञा से जुड़ा हुआ हो तो ही संघ कहलाता है । यदि वह प्रभु की आज्ञा से जुड़ा हुआ नहीं है तो वह संघ नहीं कहलाता है ।

अमृत की तो एक बूंद भी काफी है अर्थात् अमृत की एक बूंद भी हमें जीवन देने में समर्थ बनती है जबकि जहर के तो कटोरे भी क्या काम के ?

प्रभु की आज्ञा तो अमृत तुल्य है, उस आज्ञा के अनुसार की गई थोडी भी प्रवृत्ति महान् लाभ का कारण बनती है ।

एक नवकारसी का अनुष्ठान भी जब जिनाज्ञा सापेक्ष होता है तो वह मोक्ष का कारण बनता है जब कि जिनाज्ञा की उपेक्षा करके किया गया मासक्षमण आदि कठोर तप भी आत्मा के लिए लाभ का कारण नहीं बनता है, अतः आत्महित के इच्छुक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक आराधना जिनाज्ञा सापेक्ष करनी चाहिए ।

**`मूल गाथा में अट्ठिसंघाओ के बदले कहीं अत्थि संघाओ'** भी पाठ है, उसका अर्थ होता है जो जिनाज्ञा से बाह्य है वह संघ नहीं किंतु `समूह' टोला है ।

छोटा भी संघ हो तो वह तीर्थंकर आदि सभी के लिए पूज्य-आदरणीय है जब कि प्रभु आज्ञा से निरपेक्ष करने वाला संघ नही किंतु समूह है । जैन शासन में संघ की कींमत है, मात्र समूह की नहीं ।

निम्मल नाण पहाणो, दंसणजुत्तो चरित्तगुणवंतो ।
तित्थयराणाजुत्तो, वुच्चइ एयारिसो संघो ।।38।।

शब्दार्थ

निम्मल–निर्मल,	**तित्थयराणा**–तीर्थंकर की आज्ञा,
नाण–ज्ञान,	**जुत्तो**–युक्त,
पहाणो–प्रधान,	**वुच्चइ**–कहा जाता है,
दंसणजुत्तो–दर्शन युक्त,	**एयारिसो**–इस प्रकार का,
चरित्त–चारित्र,	**संघो**–संघ ।
गुणवंतो–गुणवान,	

भावार्थ–निर्मल ज्ञान से प्रधान, दर्शन युक्त, चारित्र गुण युक्त और तीर्थंकर की आज्ञा से जो युक्त होता है, उसे संघ कहा जाता है ।

विवेचन–संघ वही कहलाता है, जो तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञानुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयी की आराधना करता है ।

जहाँ तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा की उपेक्षा हो, जिनाज्ञा के प्रति अनादर भाव हो या जिनाज्ञा के विपरीत ही प्रवृत्ति होती हो तो वह संघ नहीं कहलाता है । कलिकाल सर्वज्ञ **हेमचन्द्रसूरिजी म.** ने वीतराग स्तोत्र में ठीक ही कहा है–

'आज्ञाराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च'

प्रभु आज्ञा की आराधना मोक्ष के लिए होती है और प्रभु आज्ञा की विराधना संसार के लिए होती है ।

जिनाज्ञा की विधिवत् आराधना कर भूतकाल में अनंत आत्माओं ने मोक्ष पद प्राप्तकर शाश्वत अजरामर मोक्षसुख प्राप्त किया है तो अनंत आत्माओं ने जिनाज्ञा की विराधना कर अपनी आत्मा के अनंत संसार को बढ़ाया है ।

जह तुस-खंडणमय-मंडणाइं रुण्णाइं सुन्नरन्नंमि ।
विहलाइं तह जाणसु, आणारहियं अणुट्ठाणं ।।39।।
आणाइ तवो आणाइ संजमो तह य दाणमाणाओ ।
आणारहिओ धम्मो, पलाल पुल्लू व पडिहाइ ।।40।।
आणा खंडणकारी, जइ वि तिकालं महाविभूइए ।
पूएइ वीयरागं, सव्वं पि निरत्थयं तस्स ।।41।।

शब्दार्थ

जह–जिस प्रकार,	**विहलाइं**–निष्फल,
तुस-खंडण–छिलकों को कूटना,	**तह**–उसी प्रकार,
मयमंडणाइं–मृतक का शणगार,	**जाणसु**–जानो,
रुण्णाइं–रुदन,	**आणारहियं**–आज्ञा रहित,
सुन्नरन्नंमि–शून्य जंगल में,	**अणुट्ठाणं**–अनुष्ठान ।
आणाइतवो–आज्ञा से तप,	**धम्मो**–धर्म,
आणाइ संजमो–आज्ञा से संयम,	**पलाल पुल्लू**–घास का पूला,
तह–तथा,	**व**–तरह,
दाणमाणाओ–आज्ञा से दान,	**पडिहाइ**–दिखता है ।
आणारहिओ–आज्ञा रहित,	
आणा खंडणकारी–आज्ञा खंडित करनेवाला,	**पूएइ**–पूजा करता है,
जइ वि–यद्यपि,	**वीयरागं**–वीतराग परमात्मा की,
तिकालं–त्रिकाल,	**सव्वं पि**–सब कुछ,
महाविभूइए–महाविभूति से,	**निरत्थयं**–निरर्थक,
	तस्स–उसका ।

भावार्थ–जिस प्रकार छिलकों को कूटना, मृतक का शणगार करना, शून्य जंगल में रुदन करना सब निष्फल है । उसी प्रकार आज्ञा रहित अनुष्ठान को भी निष्फल समझना ।

आज्ञा से ही तप है, आज्ञा से ही संयम है और आज्ञा से ही दान है, आज्ञा रहित धर्म तो घास के पूले की तरह दिखाई देता है ।

जिनाज्ञा का खंडन करने वाला यदि बड़े आडंबर के साथ वीतराग परमात्मा की त्रिकाल पूजा करता हो तो भी वह पूजा निष्फल ही है ।

विवेचन : शास्त्र में धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है–

'आणाए धम्मो' आज्ञा ही धर्म है अथवा जिनाज्ञानुसार किया गया अनुष्ठान ही धर्म है ।

प्रभु की आज्ञा को एक ओर रखकर किया गया कितना ही बड़ा अनुष्ठान क्यों न हो, उस अनुष्ठान की जैन शासन में कोई कीमत नहीं है ।

जिनाज्ञा रहित अनुष्ठान को उपमा देते हुए कहा है कि ऐसा अनुष्ठान तो सिर्फ छिलकों को कूटने के समान है । बीज सहित छिलकों को कूटने से अनाज के दाने बाहर आते हैं अर्थात् उसे कूटना सफल माना जाता है । परंतु सिर्फ छिलकों को कूटा जाएगा तो क्या फायदा होगा ? अपनी मेहनत बेकार ही जाएगी ।

किसी जीवित आदमी को अलंकारों से सजाया जाए तो उसे खुशी होगी और वह अच्छा भी दिखाई देगा, परंतु किसी मुर्दे को सजाया जाएगा तो क्या फायदा होगा ? मुर्दे को बढ़िया से बढ़िया भी सजाया जाएगा तो उसे लेश भी खुशी नहीं होगी । सजाने वाले की मेहनत भी बेकार जाएगी ।

अपनी समस्याओं के निराकरण के लिए कोई लोगों के बीच रुदन करे तो उसकी समस्या का समाधान हो सकता है, परंतु कोई व्यक्ति जंगल में जाकर अपनी समस्याओं के समाधान के लिए रुदन करे तो उस रुदन का कोई अर्थ नहीं होता है ।

ग्रंथकार महर्षि इस गाथा के माध्यम से छिलकों को कूटने, मुर्दे को सजाने और जंगल में रुदन करने के श्रम को निष्फल कहते हैं, उसी प्रकार जिनाज्ञा की उपेक्षा कर किए गए धार्मिक अनुष्ठान के श्रम को निष्फल कहते हैं ।

सिर्फ काया को कष्ट देना या स्वादिष्ट व रसप्रद आहार का त्याग करना तप नहीं है, प्रभु की आज्ञा के अनुसार तप करना ही वास्तविक तप है ।

स्वेच्छानुसार कष्टप्रद क्रियाएँ करना संयम नहीं है परंतु जिनाज्ञानुसार आचार मर्यादाओं के पालन पूर्वक संयम धर्म का पालन करना ही सच्चा संयम है ।

अपनी प्रसिद्धि के लिए दिया गया दान वास्तविक दान नहीं है परंतु प्रभु की आज्ञानुसार धन की मूर्च्छा को दूर करने के उद्देश्य से किया गया दान ही वास्तविक दान है ।

तप, संयम और दान सभी जिनाज्ञानुसार हों तो ही मोक्ष का कारण बनते हैं । जिनाज्ञा से विपरीत अनुष्ठान तो संसार की ही वृद्धि के कारण बनते हैं ।

कोई व्यक्ति बड़े आडंबर के साथ अमाप संपत्ति का व्यय कर जिनेश्वर परमात्मा की त्रिकाल पूजा करता है परंतु उस पूजा के साथ उसके अन्तर्मन में जिनाज्ञा के प्रति किसी प्रकार का बहुमान भाव न हो अथवा जिनाज्ञा के अनुसार प्रभु भक्ति की प्रवृत्ति न हो तो उस पूजा अनुष्ठान का कोई अर्थ ही नही है ।

किसी सत्ताधीश की आज्ञा का भंग या सेनापति की आज्ञा का भंग भी मौत का कारण बन सकता है तो त्रिभुवनपति परमात्मा की आज्ञा के भंग से तो कितना भयंकर नुकसान होगा । अतः जीवन में जहां तक हो आज्ञा भंग न हो इसके लिए पूरा पूरा प्रयत्न होना चाहिये और आज्ञा पालन हेतु प्रयत्न करना चाहिये ।

स्वदोष दर्शन

हम अपने स्वयं के गुण देखने में दर्पण जैसे बनते हैं ।
और दूसरों के दोष देखने में सूक्ष्मदर्शक यंत्र का
उपयोग करते हैं ।
वास्तव में दर्पण का उपयोग स्व-दोष दर्शन
के लिए करो और सूक्ष्मदर्शक यंत्र
का उपयोग दूसरों के गुण देखने में करो ।

रन्नो आणाभंगे, इक्कुच्चिय होइ निग्गहो लोए ।
सव्वन्नु आणभंगे, अणंतसो निग्गहं लहइ ।।42।।

शब्दार्थ

रन्नो–राजा की,	**सव्वन्नु**–सर्वज्ञ की,
आणाभंगे–आज्ञाभंग में,	**आणभंगे**–आज्ञाभंग में,
इक्कुच्चिय–एक ही बार,	**अणंतसो**–अनंत बार,
निग्गहो–निग्रह,	**निग्गहं**–निग्रह,
लोए–लोक में,	**लहइ**–प्राप्त करता है ।

भावार्थ–राजा की आज्ञा के भंग में लोक में एक ही बार निग्रह होता है जब कि सर्वज्ञ की आज्ञा के भंग में अनंतबार निग्रह होता है ।

विवेचन–लोक व्यवहार में यदि कोई किसी राजा की आज्ञा का भंग करता है तो उसे एक बार सजा होती है । सामान्य अपराध हो तो उसे ठपका मिलता है, ज्यादा बड़ा अपराध हो तो उसे थोड़े समय के लिए Jail में डाला जाता है और बहुत बड़ा अपराध हो तो उसे मृत्यु दंड की भी सजा होती है, अर्थात् राजा की आज्ञा भंग की सजा एक ही जीवन के लिए होती है । इसके विपरीत जो अनंत उपकारी ऐसे तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का भंग करता है वह कई भवों तक कष्ट पाता है ।

जिनाज्ञा का भंग अनेक रीति से हो सकता है । जिनेश्वर की आज्ञा के विपरीत सोचना, प्रभु ने जगत् का जो यथार्थ स्वरूप बताया है, उसे मन में शंका की दृष्टि से सोचना जैसे-प्रभु ने कंदमूल में सुई के अणु भाग में अनंत जीव बताए हैं तो अनंत जीव इतनी छोटी सी जगह में कैसे रह सकते हैं ?

2. गाढ़ अंधकार में रात्रि भोजन का पाप संभव है, परंतु सैकड़ों इलेक्ट्रिक Light के प्रकाश में रात्रि भोजन का पाप कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार प्रभु के वचनों के विपरीत सोचना यह मानसिक आज्ञा भंग है ।

3. प्रभु के वचन से विपरीत वचन बोलना यह वाचिक आज्ञा भंग है । ठीक ही कहा है–

'पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यु,
धर्म नहीं कोई जग सूत्र सरीखुं ।'

उत्सूत्र भाषण से बढ़कर इस जगत् में कोई पाप नहीं है और सुसूत्र वचन से बढ़कर कोई श्रेष्ठ उपकार नहीं है ।

4. प्रभु की आज्ञा से विपरीत, काया से प्रवृत्ति करना, वह कायिक आज्ञा भंग है ।

प्रभु ने जिस प्रकार की दिनचर्या के अनुसार आचार-संहिता बतलाई है, उससे विपरीत प्रवृत्ति करना, इसमें कायिक आज्ञा भंग है ।

प्रभु की आज्ञा भंग का परिणाम मात्र एक ही भव में दुखदायी नहीं है, उसका परिणाम तो अनेक भवों तक दुःख की परंपरा को पैदा करने वाला है ।

इस संसार में अपने जीव ने जितने अंश में जिनाज्ञा का पालन होगा, उतने अंश में आत्मा का विकास है और जितने अंश में आज्ञा का भंग है, उतने ही अंश में आत्मा का अधः पतन है ।

आज तक जितनी भी आत्माओं का मोक्ष या सद्गति हुई हैं, वह सब जिनाज्ञा पालन का ही प्रभाव है और जिन जिन आत्माओं की दुर्गति या पतन हुआ है, वह सब जिनाज्ञा भंग का ही कटु परिणाम है । अतः अपने जीवन में आज्ञा पालन में कही स्खलना न हो जाय, उसके लिए सतत उद्यमशील और सावधान रहना चाहिये ।

श्री नमस्कार महामंत्र चौदह पूर्व का सार है ।
जिसके हृदय में नवकार के प्रति समर्पण होता है,
उसका यह संसार कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता है ।

जह भोयणमविहिकयं, विणासए विहिकयं जियावेइ ।
तह अविहिकओ धम्मो, देइ भवं विहिकओ मुक्खं ।।43।।

शब्दार्थ

जह–जिस प्रकार,
भोयणं–भोजन,
अविहिकयं–अविधि से किया हुआ,
विणासए–नष्ट करता है,
विहिकयं–विधि से किया हुआ,
जियावेइ–जीवन देता है,
तह–उसी प्रकार,
अविहिकओ–अविधि से किया हुआ,
धम्मो–धर्म,
देइ–देता है,
भवं–संसार को,
विहिकओ–विधि से किया हुआ,
मुक्खं–मोक्ष को ।

भावार्थ–जिस प्रकार अविधि से किया गया भोजन विनाश करता है और विधि से किया गया भोजन जीवन देता है, उसी प्रकार अविधि से किया गया धर्म संसार देता है और विधि से किया गया धर्म मोक्ष देता है ।

विवेचन–जिस प्रकार रसनेन्द्रिय की आसक्ति से अतिप्रमाण में किया गया भोजन आरोग्य का नुकसान ही पहुँचाता है । अकाल समय में या भूख न लगने पर भी किया गया भोजन आरोग्य का नाश ही करता है । ठीक ही कहा है–

'हे जीभ ! भोजन और वचन (बोलने) में अपनी मर्यादा को मत चूक ! क्योंकि अतिप्रमाण में किया गया भोजन और मर्यादा तोड़कर बोला गया वचन महाअनर्थ के लिए ही होता है ।'

विधिपूर्वक किया गया भोजन अपने देह के आरोग्य को पुष्ट करता है । उसी प्रकार विधि से किया गया देशविरति या सर्वविरति लक्षण रूप धर्म अपने संसार का नाश करता है और अविधि से किया गया धर्म अपने संसार को ही बढ़ाता है ।

तप और चारित्र का पालन मोक्ष का कारण बनता है । परंतु अविधि से अर्थात् जिनाज्ञा या गुर्वाज्ञा से रहित किया गया तप तो संसार को ही बढ़ाता है ।

निष्कारण अविधि का सेवन करने से आज्ञाभंग का दोष लगता है ।

प्रश्न :- आगम में कही गई संपूर्ण विधि का पालन तो हमारे जैसे के लिए शक्य नहीं है तो फिर क्या धर्म आराधना नहीं करें ?

उत्तर :- विधि का पालन शक्य न हो तो भी विधि का अनुराग तो अवश्य होना ही चाहिए ।

संयोगवश या परिस्थितिवश विधि का संपूर्ण पालन नहीं होता हो, ऐसे संयोगों में मन में अविधि करने का दुःख होना चाहिए और विधि के पालन का पक्षपात अवश्य होना चाहिए ।

कहा भी है-आसानी से जीवन निर्वाह होता हो तो उत्सर्ग मार्ग का ही पालन करना चाहिए और जीवन निर्वाह नहीं होता हो तो अपवाद मार्ग का सेवन करना चाहिए ।

उत्सर्ग के संयोगों में अपवाद का सेवन करने वाला और अपवाद के प्रसंग में उत्सर्ग का सेवन करनेवाला भी दोष का ही भागी बनता है ।

उत्सर्ग के संयोग में उत्सर्ग का सेवन और अपवाद के प्रसंग में अपवाद का सेवन करना, यह प्रभु की आज्ञा है ।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने ठीक ही कहा है–

'आज्ञाराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च'

जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा की आराधना मोक्ष के लिए और आज्ञा की विराधना संसार की वृद्धि के लिए होती है ।

जीवन में पाप का प्रवेश द्वार आंख है ।
आंख के माध्यम से जीवन में
पापों का प्रवेश होता है,
उन पापों को रोकने का एक मात्र उपाय है
'नेत्र-संयम' ।
जिसकी आंख में संयम है,
वह पाप से बच सकता है ।

उक्कोसं दव्वत्थयं, आराहिय जाइ अच्चुयं जाव ।
भावत्थएण पावइ, अंतमुहुत्तेण निव्वाणं ।।44।।

शब्दार्थ

उक्कोसं–उत्कृष्ट,	**जाव**–यावत्,
दव्वत्थयं–द्रव्यस्तव,	**भावत्थएण**–भावस्तव से,
आराहिय–आराधना से,	**पावइ**–पाता है,
जाइ–जाता है,	**अंतमुहुत्तेण**–अन्तर्मुहूर्त से,
अच्चुयं–अच्युत,	**निव्वाणं**–निर्वाण ।

भावार्थ–द्रव्यस्तव की आराधना से श्रावक उत्कृष्ट से अच्युत अर्थात् बारहवें देवलोक को प्राप्त करता है और भावस्तव अर्थात् सर्वविरति धर्म की आराधना से आत्मा यावत् एक अन्तर्मुहूर्त में निर्वाण प्राप्त करती है ।

विवेचन–श्रावक जीवन में द्रव्य पूजा-द्रव्यस्तव की प्रधानता है, जब की साधु जीवन में भावपूजा भावस्तव की प्रधानता है ।

श्रावक यदि उत्कृष्ट भाव से एवं उत्कृष्ट-फल-फूल-नैवेद्य आदि पदार्थों से प्रभु की द्रव्य पूजा करता है तो उस पूजा के फलस्वरूप वह अधिकतम बारहवें देवलोक में जा सकता है ।

देशविरतिधर पशु अधिकतम आठवें देवलोक में और देशविरतिधर श्रावक अधिकतम बारहवें देवलोक में जा सकता है । उससे ऊपर जाने का सामर्थ्य श्रावक में नहीं होता है ।

सोने के मंदिर बना दे और रत्नों की प्रतिमाएँ भरा दे तो भी श्रावक उसके ऊपर नहीं जा सकता है ।

श्रावक सारी पृथ्वी को जिनमंदिरों से अलंकृत कर दे तो भी अधिकतम अच्युतदेवलोक पाने तक का पुण्योपार्जन कर सकता है, जबकि निरतिचार साधु धर्म के पालन रुप भाव पूजा की आराधना से एक अन्तर्मुहुर्त में केवलज्ञान मोक्ष में जा सकती है ।

मेरुस्स सरिसवस्स, जित्तियमित्तं तु अंतरं होइ ।
दव्वत्थय भावत्थय, अंतरमिह तत्तियं नेयं ।।45।।

शब्दार्थ

मेरुस्स–मेरु पर्वत,	**दव्वत्थय**–द्रव्यस्तव,
सरिसवस्स–सरसों का दाना,	**भावत्थय**–भाव स्तव,
जित्तियमित्तं–जितना,	**अंतरमिह**–यहाँ अंतर,
अंतरं–अंतर,	**नेयं**–जानना चाहिए ।
होइ–होता है,	

भावार्थ–मेरु और सरसों के दाने में जितना अंतर है उतना अंतर द्रव्यस्तव और भावस्तव के बीच जानना चाहिए ।

उत्कृष्ट भाव से आराधित द्रव्यस्तव से अच्युत देवलोक की प्राप्ति होती है, जब कि भावस्तव से अन्तर्मुहूर्त में निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

विवेचन–जिनेश्वर परमात्मा की जल-दूध-चंदन-पुष्प-धूम-दीप-अक्षत-नैवेद्य तथा फल आदि से जो पूजा की जाती है वह **द्रव्य पूजा** कहलाती है और जिनेश्वर प्रभु की संपूर्ण आज्ञा के पालन स्वरूप पंच महाव्रत स्वरूप चारित्र धर्म का पालन करना, उसे **भाव पूजा** कहते हैं ।

द्रव्य का अर्थ धन भी होता है अर्थात् पुष्प आदि से होनेवाली द्रव्य पूजा में धन की भी अपेक्षा रहती है ।

गृहस्थ को अपने जीवन निर्वाह के लिए धन की अपेक्षा रहती है । धन के बिना गृहस्थ का जीवन संभव नहीं है । अनादिकाल से आत्मा में धन के प्रति आसक्ति रही हुई है । उस आसक्ति को दूर करने के लिए ही श्रावकों के लिए स्वद्रव्य से जिनपूजा का विधान किया गया है ।

जिनेश्वर परमात्मा की उत्तम द्रव्यों से पूजा-भक्ति करने से श्रावक को सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है और पूर्व में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई हो तो वह सम्यग्दर्शन निर्मल भी बनता है । प्रभुपूजा में धन का सद्व्यय करमे से चारित्र मोहनीय का भी क्षयोपशम होता है, परिणामस्वरूप सर्वविरति चारित्रधर्म की भी प्राप्ति होती है । द्रव्यपूजा में एकेन्द्रिय आदि जीवों की स्वरूप हिंसा

होने पर भी गृहस्थ की भूमिका में रही आत्मा के लिए वह लाभ का ही कारण बनती है ।

द्रव्यस्तव की उत्कृष्ट आराधना करने वाला श्रावक अच्युत अर्थात् बारहवें देवलोक तक जा सकता है । जबकि तारक तीर्थंकर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट चारित्र का पालन तो उत्कृष्ट भावस्तव रूप है । इस भावस्तव अर्थात् भावपूजा का आराधक अपनी उत्कृष्ट संयम साधना द्वारा अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्तकर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त कर सकता है ।

सर्वविरति चारित्रधर्म की महिमा अपरंपार है । शास्त्र में कई ऐसे दृष्टान्त आते हैं, जिनमें अनेक महात्माओं ने चारित्र धर्म को स्वीकार कर उसी दिन केवलज्ञान और शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया है । भावस्तव की महिमा का कोई पार नहीं है ।

वैर का नाश

जहर से जहर को खत्म किया जा सकता है ।
काँटे से काँटे को निकाला जा सकता है ।
परंतु मन के भीतर रही वैर की वासना को
वैर भाव से खत्म नहीं कर सकते हैं,
उसके लिए तो चाहिए मैत्री भाव का मधुर जल ।
मैत्री भाव ही हमारे भीतर रही
वैर की वासना को निर्मूल कर सकता है ।

जत्थ य मुणिणो कय विक्कयाइ कुव्वंति निच्च पभट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर, विसं व दूरं परिहारिज्जा ।।46।।
जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमाइय विविहमुवगरणं ।
पडिभुंजइ साहूहीं, तं गोयम केरिसं गच्छं ।।47।।
जहिं नत्थि सारणा, वारणा य पडिचोयणा य गच्छंमि ।
सो अगच्छो गच्छो, संजमकामीहिं मुत्तव्वो ।।48।।

शब्दार्थ

जत्थ य–जहाँ पर,
मुणिणो–मुनिगण,
कय–क्रय,
विक्कयाइ–विक्रय आदि,
कुव्वइ–करते हैं,
निच्च–नित्य,
पभट्ठा–पतित,
अज्जा–आर्या,
लद्धं–प्राप्त किया हुआ,
जत्थ–जहाँ पर,
पडिग्गहमाइय–पात्र आदि,
विविह–विविध,
उवगरणं–उपकरण,
पडिभुंजइ–खाया जाता है,
साहूहीं–साधुओ द्वारा,
तं–वह,
केरिसं–कैसा,
गच्छं–गच्छ है,
जहिं–जहाँ पर,
नत्थि–नहीं है,
सारणा–याद करना,
वारणा–रोकना,
पडिचोयणा–दंडित करना,
सो–वह,
गच्छंमि–गच्छ में,
अगच्छो–गच्छ नहीं है,
गच्छो–गच्छ,
संजमकामीहिं–संयम इच्छुक द्वारा,
मुत्तव्वो-छोड़ने योग्य है ।

भावार्थ–जहाँ पर चारित्र से पतित मुनि नित्य क्रय-विक्रय आदि करते हैं । हे गुणसागर ! विष की तरह उस गच्छ का दूर से ही त्याग कर देना ।

जिस गच्छ में साध्वीजी द्वारा प्राप्त पात्र आदि उपकरण साधु द्वारा उपयोग में लिये जाते हैं, हे गौतम ! यह गच्छ कैसा ? जिस गच्छ में सारणा, अटकाना तथा विशेष भूल होने पर दंड आदि नहीं है, वह गच्छ, गच्छ, नहीं है अतः मुक्ति के अभिलाषी को उसका त्याग कर देना चाहिए ।

विवेचन–संयम जीवन में किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो तो संयमी साधु सुयोग्य गृहस्थ के पास उस वस्तु की याचना करके अपने संयम जीवन का पालन करते हैं ।

साधु के लिए किसी भी वस्तु का क्रय-विक्रय सर्वथा निषिद्ध है । फिर भी जिस गच्छ में गृहस्थ की तरह वस्तुओं का क्रय विक्रय होता हो तो हे गुणसागर ! उस गच्छ का विष की तरह दूर से ही त्याग कर देना अच्छा है ।

जिस प्रकार यह पता लग जाए कि अमुक वस्तु में जहर रहा हुआ है तो समझदार व्यक्ति उसका दूर से ही त्याग कर देता है; क्योंकि जाने-अनजाने में भी जहर खाने में आ जाय तो वह मौत का ही कारण बनता है ।

जहर तो खानेवाले को एक ही बार मारता है जब कि गुणहीन गच्छ का संग तो आत्मा को दीर्घ काल तक संसार में भटकाता है ।

साध्वी के द्वारा ग्रहण की गई भिक्षा तथा वस्त्र-पात्र आदि सुविहित साधु को कल्पते नहीं हैं परंतु जिस गच्छ में साध्वी के द्वारा ग्रहण की गई भिक्षा या वस्त्र-पात्र आदि साधु भगवंत ग्रहण करते हों तो श्री महावीर प्रभु गौतमस्वामीजी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि वह गच्छ कैसे कहला सकता है ?

एक सुविहित गच्छ का लक्षण है कि वहाँ शिष्य के आत्मविकास के लिए नियमित रूप से वाचना आदि होती है और सारणा आदि द्वारा शिष्य का आत्मविकास किया जाता है ।

सारणा अर्थात् शिष्य के कर्त्तव्य को याद दिलाना ।

वारणा अर्थात् शिष्य भूल न कर बैठे, इसलिए गलत प्रवृत्ति से रोकना ।

चोयणा अर्थात् शिष्य यदि भूल से या जानबूझकर गलत प्रवृत्ति करने के लिए तैयार हुआ हो तो उसे ठपका आदि देना ।

परिचोयणा-शिष्य द्वारा गलत प्रवृत्ति करने पर उसे दंडित भी करना ।

गुरु द्वारा नियमित रूप से सारणा आदि करने पर ही शिष्य का सच्चा आत्मविकास हो सकता है ।

गच्छं तुं उवेहंतो, कुव्वइ दीहं भवे विहीए उ ।
पालंतो पुण सिज्झइ, तइअ भवे भगवईं सिद्धं ।।49।।

शब्दार्थ

गच्छं–गच्छ को,	**पालंतो**–पालन करता हुआ,
उवेहंतो–उपेक्षा करता हुआ,	**पुण**–भी,
कुव्वइ–करता है,	**सिज्झइ**–सिद्ध होता है,
दीहं–दीर्घ,	**तइअभवे**–तीसरे भव में,
भवे–संसार में,	**भगवइं**–भगवती,
विहीए–विधिपूर्वक,	**सिद्धं**–सिद्ध किया है ।

भावार्थ–गच्छवास की उपेक्षा करने वाला अपना संसार बढ़ाता है और शास्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुसार गच्छवास का पालन करने वाला तीसरे भव में मोक्ष में जाता है । इस प्रकार भगवती सूत्र में सिद्ध किया है ।

विवेचन–मछली की सुरक्षा जल में रही हुई है । तालाब या समुद्र के जल में रहने पर मछली को जल-तरंगों के थपेड़े सहन करने पड़ते हैं । अन्य छोटे-बड़े जलजंतुओं से भी परस्पर टकराव आदि सहन करने पड़ते हैं । परंतु यदि वह मछली उस मार या टकराव से घबरा कर उस समुद्र या तालाब को छोड़कर बाहर निकलने की कोशिश करे तो उसके भाग्य में सिर्फ मौत ही है ।

जल ही मछली का जीवन है । उसी में उसका अस्तित्व है, उसी में उसकी सुरक्षा है । बस, यही बात लागू पड़ती है संसार की मोहमाया को छोड़कर आत्म-कल्याण के पथ पर निकले मुक्ति साधक आत्मा को ! उस श्रमण-साधक की सुरक्षा गुरुकुलवास अर्थात् गुरु-गच्छ में ही है । भले ही गुरुकुलवास में थोडी बहुत प्रतिकूलताएँ भी क्यों न सहन करनी पड़ें । वह सब सहन करने में थोड़ासा कष्ट है परंतु लाभ का पार नहीं है ।

जिस प्रकार नवोढ़ा कन्या के शील की सुरक्षा सास-ससुर के सान्निध्य में है, उसी प्रकार संयमी आत्मा के संयम की सुरक्षा भी गुरुकुलवास में है ।

गुरुकुलवास की अच्छी तरह से आराधना करनेवाली आत्मा प्रायः तीसरे भव में शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त कर लेती है और उस गुरुकुलवास की उपेक्षा कर स्वतंत्र-स्वच्छंद जीवन जीनेवाले मुनि को दीर्घकाल तक इस चारगतिमय दुःखमय संसार में भटकना पड़ता है । गुरुकुलवास में अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भी अभिवृद्धि होती है ।

जत्थ हिरन्न सुवन्नं, हत्थेण पराणगंपि नो छिप्पे ।
कारणसमल्लियंपि हु गोयम गच्छं तयं भणियं ।।50।।

शब्दार्थ

जत्थ–जहाँ,	**कारणसमल्लियंपि**–कारण पैदा होने पर भी,
हिरन्न–हिरण्य,	**गोयम**–हे गौतम !
सुवन्नं–स्वर्ण को,	**गच्छं**–गच्छ,
हत्थेण–हाथ से,	**तयं**–उसे,
पराणगंपि–दूसरे का,	**भणियं**–कहा गया है ।
नो छिप्पे–स्पर्श नहीं करता है,	

भावार्थ–जिस गच्छ में साधु कारण होने पर भी दूसरों के सुवर्ण का स्पर्श भी नहीं करता है, उसे हम गच्छ कहते हैं ।

विवेचन–सुविहित गच्छ में साधु को सोने-चांदी आदि धन-संपत्ति का स्पर्श करने का भी निषेध है क्योंकि साधु को पाँचवें महाव्रत में धन का त्याग होने से उस धन के संपर्क से मन में राग भाव पैदा होने की संभावना रहती है ।

अनादिकाल से आत्मा में मैथुन व परिग्रह संज्ञा भी रही हुई है । उस मैथुन संज्ञा के नाश के लिए साधु को ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ के पालनपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना सरल हो जाता है । उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा में रही परिग्रह संज्ञा को निर्मूल करने के लिए धन-धान्यादि का सर्वथा त्याग तो जरूरी है ही, इसके साथ उनके स्पर्श से भी दूर रहना चाहिए । जो चीज हम आँख से देखते हैं या हाथ से स्पर्श करते हैं, फिर उस वस्तु को लेने का, अपनी बनाने का मन होता है ।

जिस गच्छ में साधु-साध्वी सोने-चांदी का स्पर्श करते हैं, उनका संग्रह करते हैं, वास्तव में वह गच्छ ही नहीं कहलाता है ।

आज जिसका स्पर्श करते हैं, कल उसके संग्रह की इच्छा पैदा होती है । सुवर्ण आदि का संग्रह महाअनर्थकारी है ।

व्यक्ति एक कदम चूकता है तो वह दस कदम नीचे गिरता है । पतन का प्रारंभ बहुत छोटा होता है, परंतु उसका अंत बहुत बुरा होता है ।

पुढवि दग अगणि मारुअ-वणस्सइ तह तसाण विविहाणं ।
मरणंते वि न पीडा, कीरइ मणसा तयं गच्छं ।।51।।
मूलगुणेहिं विमुक्कं, बहुगुणकलियं पि लद्धिसंपन्नं ।
उत्तमकुले वि जायं, निद्धाडिज्जइ तयं गच्छं ।।52।।
जत्थ य उसहादीणं, तित्थयराणं सुरिंदमहियाणं ।
कम्मट्ठ विमुक्काणं, आणं न खलिज्जइ स गच्छो ।।53।।
जत्थ य अज्जाहिं समं, थेरा वि न उल्लवंति गयदसणा ।
न य झायंतीत्थीणं, अंगोवंगाइं तं गच्छं ।।54।।

शब्दार्थ

पुढवि–पृथ्वीकाय,
दग–पानी,
अगणि–अग्नि,
मारुअ–वायु,
वणस्सइ–वनस्पति,
तह–तथा,
तसाण–त्रस,
विविहाणं–विविध,
मरणंते–मरणांत स्थिति में,
वि–भी,
न–नहीं,
पीडा–दर्द,
कीरइ–करता है,
मणसा–मन से,
तयं–वह,
गच्छं–गच्छ है,
मूलगुणेहिं–मूलगुणों से,
विमुक्कं–रहित,
बहुगुणकलियं–बहुत गुणों से युक्त,
पि–भी,
लद्धिसंपन्नं–लब्धि युक्त,
उत्तमकुले–उत्तमकुल में,
जायं–पैदा हुआ,
निद्धाडिज्जइ–बाहर निकाल देते हैं,
जत्थ य–जहां पर,
उसहादीणं–ऋषभ आदि,
तित्थयराणं–तीर्थंकरों की,
सुरिंदमहियाणं–इंद्रों से पूजित,
कम्मट्ठ–आठ कर्मों से,
विमुक्काणं–रहित,
आणं–आज्ञा,
न खलिज्जइ–स्खलित नहीं करता है,
जत्थ य–जहाँ पर,
अज्जाहिं समं–साध्वी के साथ,
थेरा वि–स्थविर भी,
न उल्लवंति–नहीं बोलती है,

गयदसणा–दाँत रहित,	**इत्थीणं**–स्त्रियों का,
न य झायंती–ध्यान नहीं करते हैं,	**अंगोवंगाइं**–अंग उपांग ।

भावार्थ–जिस गच्छ में विविध प्रकार के पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय जीवों की मरणांत स्थिति में भी मन से भी पीड़ा नहीं चाहते हैं वह सच्चा गच्छ है ।।51।।

जिस गच्छ में कोई साधु अनेक गुणों से युक्त हो, अनेक लब्धियों से युक्त हो, उत्तम कुल में जन्मा हुआ हो फिर भी जो मूलगुण से भ्रष्ट हो, उसे गच्छ में से बाहर निकाल दिया जाता है, उसी को गच्छ समझना चाहिए ।।52।।

जहाँ पर आठ कर्मों से मुक्त और इन्द्रों से पूजित श्री ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों की आज्ञा का अखंड पालन होता हो तथा स्खलना नहीं होती हो, उसी को गच्छ समझना चाहिए ।।53।।

जिस गच्छ में जिनके दाँत गिर गए हो ऐसे स्थविर साधु भी साध्वी के साथ बात नहीं करते हैं तथा गोचरी आदि के प्रसंग में स्त्रियों के अंगोपांगों को नहीं देखते हैं, उसी को गच्छ समझना चाहिए ।।54।।

विवेचन–भव के बंधन में से सदा के लिए मुक्ति पाने के लिए और शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करने के लिए तारक तीर्थंकर परमात्मा ने पाँच महाव्रतों एवं अष्ट प्रवचन माताओं के पालन स्वरुप साधु धर्म बतलाया है ।

ऐसे साधु धर्म का व्यवस्थित रूप से पालन हो सके, इसी ध्येय से गच्छवास अर्थात् गुरुकुल में निवास करते हैं । ऐसे गुरुकुलवास में ही संयमी आत्मा के संयम की सुरक्षा रही हुई है, परंतु जिस गच्छ में गच्छ नायक या गच्छ में वास करनेवाले साधु संयम धर्म की आचार मर्यादाओं का पालन नहीं करते हों तो वह साधुओं का समुदाय भी गच्छ नहीं कहलाता है । गच्छ, गच्छनायक और गच्छ में रहनेवाले संविग्न साधुओं के विशुद्ध आचारों का सुंदर वर्णन **'गच्छाचार पयन्ना'** नाम के आगम में **सुधर्मास्वामीजी** ने किया है । उसी में से उद्धृत चार गाथाओं के द्वारा यहाँ गच्छ का स्वरूप बताया है ।

श्रमण जीवन में पाँच महाव्रतों के स्वीकार के साथ ही त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग किया जाता है अतः जिस गच्छ में मरणांत स्थिति आने पर भी त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा नहीं की जाती है, वास्तव में वही गच्छ कहलाता है ।

गच्छ में किसी मुनि ने आकाशगामिनी आदि विद्याएँ सिद्ध की हों, अणिमा-लघिमा आदि अनेक लब्धियाँ प्राप्त की हो ऐसा मुनि भले ही उत्तम कुल में पैदा हुआ हो फिर भी यदि वह महाव्रतों से रहित हो अर्थात् पाँच महाव्रतों का बराबर पालन नहीं करता हो तो उसे गच्छ में से बाहर निकाल दिया जाता है । इसका अर्थ है कि प्रभु के मार्ग का साधक 'गच्छ' वही कहलाता है, जिस गच्छ में महाव्रतों का अच्छी तरह से पालन होता है । अन्य सब कुछ हो परंतु मूल में ही क्षति हो तो उसका कोई अर्थ नही है । प्राण रहित सुंदर शव की भी क्या कीमत है ? अर्थात् गच्छ वही कहलाता है जहाँ महाव्रत संबंधी आचार-मर्यादाओं का अच्छी तरह से पालन होता हो ।

इन्द्रों से पूजित और आठ कर्मों से मुक्त ऐसे ऋषभदेव आदि तीर्थंकर परमात्माओं की आज्ञाओं का जहाँ समुचित पालन होता हो, उसी गच्छ को वास्तविक गच्छ कहा जाता है । परंतु जिस गच्छ में परमात्मा की आज्ञाओं का ही उल्लंघन होता हो, वास्तव में ऐसे गच्छ में अन्य कई विशेषताएँ हों तो भी उस गच्छ की कोई कीमत नहीं है ।

कलिकालसर्वज्ञ **हेमचन्द्रसूरिजी म.** ने **'वीतराग-स्तोत्र'** में ठीक ही कहा है-हे परमात्मा ! आपकी बाह्य पूजा से भी आपकी आज्ञा का पालन अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

परमात्मा की आज्ञा का पालन मोक्ष का साधन है और परमात्मा की आज्ञा का भंग संसार वृद्धि का कारण है ।

जिन-जिन प्रवृत्तियों से आत्मा कर्मों का बंध करती है उन-उन प्रवृत्तियों का त्याग करना, यह प्रभु की आज्ञा है ।

जिन-जिन प्रवृत्तियों से आत्मा में नए-नए कर्मों का आगमन नहीं होता हो और पूर्व में बँधे हुए कर्मों का क्षय होता हो, वैसी प्रवृत्ति करना-यह प्रभु की आज्ञा है । तीर्थंकरों की आज्ञाओं में कहीं कोई मतभेद नहीं है । जो आज्ञा ऋषभदेव प्रभु की है, वो ही आज्ञा अजितनाथ-पार्श्वनाथ-महावीर आदि तीर्थंकरों की भी है और जो आज्ञा महावीर प्रभु की है, वो ही आज्ञा भविष्यकाल में होने वाले पद्मनाभ आदि तीर्थंकर परमात्मा की भी है ।

अतः जहाँ जिनाज्ञा-पालन पर ही खूब भार दिया जाता है, वो ही वास्तविक गच्छ कहलाता है ।

पाँच महाव्रतों में चौथा महाव्रत सबसे अधिक कीमती है । अतः उस महाव्रत के रक्षण के लिए ही नौ-नौ बाड़ का विधान किया गया है ।

अन्य सभी महाव्रतों में अपवाद का विधान है परंतु चौथे महाव्रत के पालन में कहीं कोई अपवाद नहीं है ।

आत्मा के अंतरंग छह शत्रुओं में सबसे अधिक प्रबल शत्रु काम ही है । अतः जिसने काम को जीत लिया उसने सारे विश्व को जीत लिया और जो काम का गुलाम है वह विश्व का गुलाम कहलाता है ।

सुगच्छ की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि जहाँ रहे वृद्ध मुनि भी साध्वीजी के साथ वार्तालाप आदि नहीं करते हैं ।

शास्त्र में तीन प्रकार के वृद्ध अर्थात् स्थविर कहे गए हैं–

जिनकी उम्र 60 वर्ष से अधिक है, उन्हें **वय स्थविर** कहते हैं ।

जिनका दीक्षा पर्याय बीस वर्ष से अधिक है, उन्हें **पर्याय स्थविर** कहते हैं ।

जिन्होंने समवायांग के सूत्रों का अभ्यास किया हो उन्हें **श्रुत स्थविर** कहते हैं ।

अनादिकाल से हर आत्मा में उन आहार, मैथुन आदि चार संज्ञाओं के संस्कार रहे हुए हैं ।

निमित्त को पाकर वे संस्कार जागृत होते हैं । पेट्रोल का स्पर्श ठंडा ही होता है । परंतु ज्यों ही उस पेट्रोल को आग की चिनगारी का निमित्त मिल जाता है, त्योंही आग भड़क उठती है । बस, इसी प्रकार अनादि काल से आत्मा में घर कर रही हुई मैथुन की वासना को निर्मूल करने के लिए संयम की आचार मर्यादाओं का पालन खूब जरूरी है ।

वयोवृद्ध साधु के लिए भी स्त्रियों के साथ वार्तालाप निषिद्ध है तो बाल युवा साधुओं की तो क्या बात करना !

गोचरी आदि के प्रसंग में स्त्री से थोड़ा वार्तालाप भी हो तो भी उसके अंगोपांग के निरीक्षण से सर्वथा दूर ही रहना चाहिए ।

वज्जेइ अप्पमत्ता, अज्जासंसग्गिं अग्गिविससरिसिं ।
अज्जाणुचरो साहू, लहइ अकित्तिं खु अचिरेण ।।55।।

शब्दार्थ

वज्जेइ–त्याग करता है,	करने वाला,
अप्पमत्ता–अप्रमत्त मुनि,	**साहू**–साधु,
अज्जासंसग्गिं–आर्या के संग का	**लहइ**–प्राप्त करता है,
अग्गिविससरिसिं–अग्निविष समान,	**अकित्तिं**–अपकीर्ति,
अज्जाणुचरो–आर्या का अनुसरण	**अचिरेण**–शीघ्र ।

भावार्थ–अप्रमत्त मुनि अग्नि व विष समान साध्वी के संपर्क का त्याग करता है । साध्वी का अनुसरण करनेवाला साधु शीघ्र ही अपकीर्ति प्राप्त करता है ।

विवेचन–अनादिकाल से आत्मा में मैथुन संज्ञा रही हुई है, इस संज्ञा के फलस्वरूप हर आत्मा में विजातीय तत्त्व का आकर्षण रहा हुआ है ।

संयम जीवन में इस व्रत के पालन व रक्षण हेतु 9-9 बाड़ों का विधान किया गया है, उन बाड़ों के पालन में ही संयम की सुरक्षा रही हुई है ।

इसलिए मुक्ति का साधक अप्रमत्त साधु, साध्वी के साथ भी विशेष संपर्क का त्याग करता है ।

जिस प्रकार अग्नि के संपर्क से मोम पिघलने लगता है, उसी प्रकार स्त्री के संपर्क से पुरुष भी कामातुर हुए बिना नहीं रहता है ।

प्रस्तुत गाथा में स्त्री को अग्नि और विष की उपमा दी गई है ।

आग जलाने का काम करती है । आग को सर्वभक्षी भी कहा है । बस, युवा स्त्री को भी आग की उपमा दी है । उसके संसर्ग-अतिपरिचय आदि से संयम के गुण जलकर खाक हो जाते हैं ।

स्त्री को विष की भी उपमा दी है । विष का प्रयोग मौत का ही कारण बनता है । उसी प्रकार स्त्री के अतिपरिचय से संयम गुणों की मौत होती है अतः सच्चे आराधक को स्त्री के विशेष परिचय से दूर रहना चाहिए ।

साध्वी का अनुसरण करने से लोक में साधु की भी अपकीर्ति ही होती है ।

जो देइ कणयकोडिं, अहवा कारेइ कणय जिण-भवणं ।
तस्स न तत्तिय पुन्नं, जत्तिय बंभव्वए धरिए ।।56।।

शब्दार्थ

जो–जो व्यक्ति,	**तस्स**–उसको,
देइ–देता है,	**न**–नहीं,
कणयकोडिं–करोड़ स्वर्ण,	**तत्तिय पुन्नं**–उतना पुण्य,
अहवा–अथवा,	**जत्तिय**–जितना,
कारेइ–बनाता है,	**बंभव्वए**–ब्रह्मचर्य व्रत,
कणयजिण भवणं–स्वर्ण मंदिर,	**धरिए**–धारण करने से ।

भावार्थ–कोई व्यक्ति करोड़ों सुवर्ण मुद्राओं का दान करता है अथवा सोने का मंदिर बनाता है तो भी उसको उतना पुण्य नहीं है, जितना ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने में है ।

विवेचन–तारक अरिहंत परमात्मा ने चार प्रकार के धर्म बतलाए हैं- दान, शील, तप और भाव । ये चारों धर्म क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़कर हैं । दान से भी शील की कीमत ज्यादा है ।

दान में धन का त्याग है । कोई भी व्यक्ति अपने धन को चौबीस घंटे साथ में लेकर नहीं घूमता है अर्थात् दान में दूर रही वस्तु का त्याग है । अतः दान देना सरल है परंतु ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन है, क्योंकि उसमें विषय-भोगों का त्याग है ।

दान में धन का संपूर्ण त्याग नहीं है । कोई भी व्यक्ति अपने पास रही धन-संपत्ति में से 5-10-25 प्रतिशत का दान करता है, दान करने के बाद भी धन पर उसका अधिकार बना रहता है अतः दान देना सरल है परंतु दान से भी संपूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना कठिन है क्योंकि उसमें विषय-भोगों का संपूर्ण त्याग करना है । इसी कारण कहा है कोई व्यक्ति अपने पास में रही करोड़ों सुवर्ण मुद्राओं का दान कर दे या सोने के मंदिर बनवाकर वीतराग परमात्मा की प्रतिष्ठा करा दे तो भी उस व्यक्ति को उतने पुण्य का बंध नहीं होता है जितने पुण्य का बंध ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करनेवाले को होता है ।

ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले को देवलोक में रहे देवता भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन उनके लिए भी कठिन है ।

अब्रह्म का सेवन करने वाला दैहिक सुख पाता है जब कि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाला आत्मिक सुख की अनुभूति करता है ।

ब्रह्म अर्थात् आत्मा, आत्मा में रमण करना उसी का नाम ब्रह्मचर्य है ।

दैहिक सुख क्षणिक है, नाशवंत है, जबकि आत्मिक सुख वास्तविक और शाश्वत है ।

क्षणिक सुखों के त्याग बिना शाश्वत सुखों की प्राप्ति संभव नहीं है अतः जिसे शाश्वत सुखों की भूख हो उसे क्षणिक सुखों का त्याग करना ही चाहिए ।

स्त्री के भोग में क्षणिक सुख का आनंद है जबकि उस सुख के त्याग में शाश्वत व वास्तविक सुख की अनुभूति है, अतः वास्तविक सुख के अभिलाषी को क्षणिक सुखों का त्याग करना ही चाहिए ।

पू. लक्ष्मीसूरिजी म. ने ब्रह्मचर्य व्रत की पूजा में कहा है–

'जिन पूजा जिनमंदिरा, कंचनना करे जेह ।
ब्रह्मव्रतथी बहु फल लहे, नमो नमो सियग सुदेह ।।'

अर्थ : कोई व्यक्ति सोने के मंदिर बनवाए और रत्नों की प्रतिमा भराए, उसके फल से भी ब्रह्मचर्य व्रत के पालन से अधिक फल मिलता है ।

जो मौत को भूला है,
वह गुमराह हुआ है ।
मौत को अपनी आँखों के सामने
रखनेवाला अनेक पापों से बच जाता है ।

सीलं कुल-आहरणं, सीलं रूवं च उत्तमं होइ ।
सीलं चिय पंडिच्चं, सीलं चिय निरूवमं धम्मं ।।57।।

शब्दार्थ

सीलं–शील,
कुल-आहरणं–कुल का आभूषण,
रूवं–रूप,
पंडिच्चं–पांडित्य,
चिय–ही,
निरूवमं–निरुपम,
धम्मं–धर्म ।

भावार्थ–शील ही कुल का आभूषण है, शील ही श्रेष्ठ रूप है, शील ही पांडित्य है और शील ही निरुपम धर्म है ।

विवेचन–जो व्यक्ति शील अर्थात् सदाचार की मर्यादाओं का पालन करने वाला है–दीक्षा लेने वाला ब्रह्मचर्य का संपूर्ण पालन करता है अर्थात् साधु के लिए संपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना यह शील है ।

गृहस्थ के लिए स्वदारा संतोष और पर स्त्री गमन का त्याग करना यह शील है ।

शीलवती स्त्रियाँ मन से भी पर-पुरुष की इच्छा नहीं करती हैं ।

प्रातःकाल की मंगल बेला में हम जिन महासतियों को याद करते हैं, वे संपूर्ण ब्रह्मचारिणी होती हैं, ऐसा नहीं है । वे विवाहिता भी होती हैं और उनके संतानें भी होती हैं फिर भी वे महाशीलवती होती हैं क्योंकि वे अपने पति को छोड़ अन्य किसी पुरुष की मन से भी इच्छा नहीं करती हैं । मन, वचन और काया से शील धर्म का पालन करनेवाले स्त्री या पुरुष देवताओं के लिए भी आदरणीय और वंदनीय होते हैं ।

निर्मल शील धर्म का पालन करने से कुल की इज्जत बढ़ती है ।

शील के कारण ही रूप की शोभा है, जिस रूप के साथ शील नहीं है, वह रूप निंदनीय ही कहलाता है ।

बुद्धि की सफलता और सार्थकता भी शील के पालन में है । जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का उपयोग अब्रह्म के सेवन आदि में करता है, उसकी बुद्धि भी निदंनीय कहलाती है ।

शील ही सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है । शील के पालन के साथ किया गया तप मुक्ति का कारण बनता है ।

चाहे जितना तप-त्याग और कष्ट सहन करे परंतु जीवन में यदि शीलपालन नहीं है तो उस तप-त्याग की फूटी कौड़ी की भी कीमत नहीं है ।

वरं वाही वरं मच्चू, वरं दालिद्दसंगमो ।
वरं अरण्णवासो य, मा कुमित्ताण संगमो ।।58।।

शब्दार्थ

वरं–श्रेष्ठ,
वाही–व्याधि,
मच्चू–मृत्यु,
दालिद्द–दारिद्र्य,
संगमो–संगम,
अरण्णवासो–जंगल में निवास,
मा–नहीं,
कुमित्ताण–कुमित्रों का,
संगमो–संगम ।

भावार्थ–व्याधि भी अच्छी है, मृत्यु भी अच्छी है, दरिद्रता का संग भी अच्छा है और अरण्यवास भी अच्छा है परंतु कुमित्रों का संग अच्छा नहीं है ।

विवेचन–कुमित्र के साथ दोस्ती बहुत खतरनाक है, यह बात समझाने के लिए यहाँ कुछ दृष्टांत दे रहे हैं ।

शरीर में किसी भी प्रकार की बीमारी का होना अच्छा नहीं है । कोई भी व्यक्ति शरीर में रोग पैदा होते ही उसका इलाज कराना चाहता है । क्योंकि रोग स्वयं तो दुःखदायी है ही, परंतु उसका इलाज न कराया जाय तो वह आगे चलकर मौत का भी कारण हो जाता है ।

परंतु कुमित्रों का संग तो उससे भी ज्यादा खतरनाक है ।

मौत आ जाय तो भी अच्छा है, क्योंकि मौत की पीड़ा कुछ ही समय के लिए होती है ।

दरिद्रता का संग अर्थात् गरीबी भी अच्छी है । गरीबी में थोड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, परंतु कुमित्रों का संग तो बहुत ही खतरनाक है ।

जंगल में जीवन-निर्वाह की सभी सामग्री उपलब्ध नहीं होती है । जंगल में ठंडी-गर्मी, भूख, प्यास आदि की पीड़ा सहन करनी पड़ती है । परंतु उस जंगलवास से भी मूर्ख या दुर्जन व्यक्ति के साथ संबंध करना अच्छा नहीं है ।

जहर खाने से आदमी की मौत हो जाती है, अर्थात् जहर तो एक ही बार मारता है जबकि कुमित्रों का संग तो आत्मा को अनेक भवों तक दुःख देता है ।

गंगा का पवित्र जल सागर के संग से खारा हो जाता है, उसी प्रकार कुमित्र के संग से जीवन में प्रयत्न से प्राप्त गुणों का भी नाश हो जाता है ।

मानव मन संगति से खूब प्रभावित होता है, अतः कुमित्रों के संग से सदैव दूर रहना चाहिए ।

नीतिशास्त्र में कहा है–हाथी, घोड़ा, बैल व कुत्ते आदि से दूर ही रहना चाहिए परंतु दुर्जन से तो 100 कोस दूर ही रहना चाहिए ।

खराब मित्रों के साथ रहनेवाला व्यक्ति विचार भ्रष्ट बनता है । एक बार व्यक्ति विचारों से भ्रष्ट हो गया तो उसे आचार भ्रष्ट होते देर नहीं लगती है । आचार भ्रष्टता से भी विचारों की भ्रष्टता बहुत ही खतरनाक है । प्रभु महावीर के शिष्य जमाली विचार भ्रष्ट हो गए तो आचारों का पालन करते हुए भी उन्होंने अपनी आत्मा का संसार बढा दिया ।

रोग, दरिद्रता आदि से तो व्यक्ति एक ही जीवन में दुःखी होता है, जबकि कुमित्रों की संगति से व्यक्ति के अनेक भव बर्बाद हो जाते हैं, अतः कुमित्रों के संग से बचने के लिए पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिए, उसी में अपना आत्महित रहा हुआ है ।

सामनेवाला मांगे और हम देवे
वह **'दाक्षिण्यता'** है और सामनेवाले के
मांगे बिना जो देता हैं, वह **'उदारता'** है ।
दाक्षिण्य गुणवाला व्यक्ति किसी के मांगने पर देता हैं
जबकि उदार व्यक्ति स्वेच्छा से देता है ।
जीवन में उदार बनना चाहिये ।

अगीयत्थकुसीलेहिं संगं तिविहेण वोसिरे ।
मुक्खमग्गंमीमे विग्घे, पहंमी तेणगे जहा ।।59।।

शब्दार्थ

अगीयत्थ–अगीतार्थ,	**इमे**–ये,
कुसीलेहिं–कुशील व्यक्तियों के साथ,	**विग्घे**–विघ्नभूत हैं,
संगं–संगति,	**पहंमी**–मार्ग में,
तिविहेण–मन, वचन व काया से,	**तेणगे**–चोर,
वोसिरे–त्याग करो,	**जहा**–जिस प्रकार ।
मुक्खमग्गंमी–मोक्षमार्ग में,	

भावार्थ–जिस प्रकार मार्ग में चोर विघ्नभूत हैं, उसी प्रकार मोक्ष मार्ग में अगीतार्थ और कुशील व्यक्तियों का संग विघ्नभूत है अतः उनका मन, वचन और काया से त्याग करना चाहिए ।

विवेचन–गीतार्थ अर्थात् सूत्र और अर्थ के रहस्य को जानने, समझने वाले ।

तारक तीर्थंकर परमात्मा अपनी धर्मदेशना द्वारा जगत् के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करते हैं अर्थात् परमात्मा अर्थ से देशना देते हैं ।

प्रभु की उस देशना का श्रवणकर गणधर भगवंत प्रभु की उस देशना को सूत्र के रूप में गूँथते हैं ।

गीतार्थ सद्गुरु के माध्यम से जिनवचन का सम्यग् बोध होता है, जिसके परिणाम स्वरूप जीवन में सन्मार्ग में गति रहती है ।

परंतु जो अगीतार्थ है, प्रभु के वचनों के मर्म को जो अच्छी तरह से जानते-समझते नहीं हैं । ऐसे अगीतार्थ और कुशील ऐसे वेषधारी साधुओं का समागम तो आत्मा को भयंकर नुकसान ही पहुँचाता है ।

चारित्रहीन व्यक्तियों के संसर्ग से अपनी आत्मा को भयंकर नुकसान ही होता है ।

चारित्रहीन के संसर्ग-संपर्क से अपना भी चारित्र नष्ट होता है । कदाचित् जागृति रखने पर चारित्र नष्ट न हो तो भी समाज में बदनामी तो अवश्य होती है ।

उम्मग्गदेसणाए, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं ।
वावन्नदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ।।60।।

शब्दार्थ

उम्मग्गदेसणाए–उन्मार्ग की देशना से,
चरणं–चारित्र,
नासंति–नाश करता है,
जिणवरिंदाणं–जिनेश्वर के,
वावन्नदंसणा–नष्ट दर्शन वाले,
खलु–वास्तव में,
लब्भा–योग्य नहीं हैं,
तारिसा–उस प्रकार के,
दट्ठुं–देखने के लिए ।

भावार्थ–उन्मार्ग देशना से जिनेश्वर संबंधी चारित्र का नाश होता है । सम्यग्दर्शन से मुक्त बने का दर्शन भी उचित नहीं है ।

विवेचन–तारक तीर्थंकर परमात्मा जगत् के जीवों को सन्मार्ग की धर्मदेशना देकर सबसे बड़ा उपकार करते हैं । भव में भटक रही आत्मा को सन्मार्ग की राह बताना-यह सबसे बड़ा उपकार है तो जगत् के जीवों को सन्मार्ग से भ्रष्टकर उन्मार्ग में प्रेरित करना, यह सबसे बड़ा अपराध है ।

सम्यक्त्व से भ्रष्ट बने हुए जो साधु अन्य भद्रिक जीवों को उन्मार्ग का उपदेश देते हैं, सचमायने में वे अपना और जगत् के जीवों का सबसे बड़ा अहित करते हैं ।

उन्मार्ग बताना अर्थात् सन्मार्ग से भ्रष्ट करना यह सबसे बड़ा अपराध सबसे बड़ा पाप है । इस पाप के आचरण से आत्मा दीर्घ काल तक इस संसार में भटकती है । जो साधु स्वयं सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर अपने आश्रितों को भी उन्मार्ग की राह बताते हैं उनका तो मुँह भी देखने जैसा नहीं है ।

गंगा, यमुना और सरस्वती नदी को
पार करना आसान हैं,
परंतु तृष्णा रुपी नदी को
पार करना अत्यंत कठिन है ।

परिवारपूअहेऊ, ओसण्णाणं च आणुवित्तीए ।
चरणकरणं निगूहइ, तं दुल्लहबोहिअं जाण ।।61।।

शब्दार्थ

परिवारपूअ–परिवार की पूजा,	**निगूहइ**–छुपाता है,
हेऊ–हेतु से,	**तं**–उसे,
ओसण्णाणं–अवसन्न,	**दुल्लहबोहिअं**–दुर्लभबोधि,
आणुवित्तीए–अनुवृत्ति से,	**जाण**–जानो ।
चरणकरणं–चरण करण,	

भावार्थ–परिवार द्वारा पूजा के हेतु से तथा अवसन्न आदि के अनुसरण से जो चरण-करण को छिपाता है उसे दुर्लभबोधि मानना चाहिए ।

विवेचन–जो आत्मा के मोह व अज्ञान रूप अंधकार को दूर करते हैं, वे सद्गुरु कहलाते हैं और जो अपने शिष्य परिवारजनों की ओर से मान-सम्मान पाने की लालसा से शिष्यों को चरण-करण रूप सन्मार्ग की राह नहीं बताते हैं, और विपरीत मार्ग बताते हैं, अवसन्न-पासत्था आदि के आचरण का अनुसरण करनेवाले उनको दुर्लभबोधि समझना चाहिए ।

कोई शिथिल धर्मगुरु अपनी शिथिलता को छुपाने के लिए अपने आश्रितों को सत्य धर्म का स्वरूप कहने में हिचकिचाता है । अपनी शिथिलता के बचाव के लिए वह उत्सर्ग मार्ग के बजाय अपवाद मार्ग को ही पुष्ट करता है । इस प्रकार की प्रवृत्ति द्वारा वह अपनी आत्मा के ही संसार को बढाता है ।

जल देने वाले बादल का
स्थान ऊपर है और
संग्रह करनेवाले सागर का स्थान नीचे है ।
दानी का हाथ हमेशा ऊपर रहता है ।

अंबस्स य निंबस्स य, दुण्हं पि समागयाइं मूलाइं ।
संसग्गीइ विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ।।62।।

शब्दार्थ

अंबस्स–आम के,	**विणट्ठो**–नष्ट हुआ,
दुण्हं पि–दोनों के,	**अंबो**–आम,
समागयाइं–एकमेक हुए,	**निंबत्तणं**–नीम पने को,
मूलाइं–जड़ें,	**पत्तो**–प्राप्त हुआ ।
संसग्गीइ–संसर्ग से,	

भावार्थ–आम और नीम दोनों के मूल (जुड़े) एकमेक हुए । नीम के संसर्ग से आम नष्ट हो गया और वह भी नीमपने को प्राप्त हो गया ।

विवेचन–इस जगत् में जितने भी जड़ और चेतन पदार्थ हैं वे सभी पदार्थ संसर्ग से प्रभावित होते हैं । सूर्य की किरणों के संपर्क से ठंडा पानी भी गर्म हो जाता है ।

मीठा पानी भी खारी भूमि के संसर्ग से खारा हो जाता है ।

अंगूर के गुच्छे में एक अंगूर सड़ा हुआ होता है और उसके संसर्ग से धीरे-धीरे दूसरे अंगूर भी सड़ने लगते हैं ।

सामान्यतया अच्छी और बुरी दो वस्तुओं के संसर्ग में अच्छी वस्तु के बिगड़ने की संभावना ज्यादा रहती है । साँप के संसर्ग से गाय का मधुर व पौष्टिक दूध भी जहर में रूपांतरित हो जाता है ।

वेश्या के संपर्क से नंदिषेण मुनि का पतन हो गया था ।

वेश्या के यहाँ चातुर्मास हेतु पधारे सिंहागुफावासी मुनि का मानसिक पतन हो गया था ।

दुर्जन की संगति करने से दुर्जन को कुछ भी फर्क नहीं पड़ता है । आखिर नुकसान तो सज्जन को ही होता है । सज्जन को ही अपना स्वभाव खोना पड़ता है ।

पक्कणकुले वसंतो, सउणीपारो वि गरहिओ होइ ।
इय दंसणा सुविहिआ, मज्झि वसंता कुसीलाणं ।।63।।

शब्दार्थ

पक्कणकुले–निंद्यकुल में,	**इय**–इस प्रकार,
वसंतो–रहने वाला,	**दंसणा**–दृष्टांत से,
सउणीपारो–विद्या में पारगामी,	**सुविहिआ**–सुविहित,
वि–भी,	**मज्झि**–मध्य में,
गरहिओ–निंद्य,	**वसंता**–रहने वाले,
होइ–होता है,	**कुसीलाणं**–कुशील के ।

भावार्थ–निंद्यकुल में रहनेवाला चौदह विद्या का पारगामी भी निंदनीय बनता है, उसी प्रकार कुशील साधुओं के बीच सुविहित साधु भी निंदनीय बनते हैं ।

विवेचन–शकुनीपारक अर्थात् स्नान, संध्या, पूजा, होम, जाप और तर्पण आदि षट्कर्म को जाननेवाला ब्राह्मण । ऐसा ब्राह्मण भी यदि चांडाल कुल में उत्पन्न हल्के व्यक्ति के साथ रहता हो तो चांडाल को कुछ भी नुकसान नहीं है परंतु नुकसान तो ब्राह्मण को ही होता है । वह ब्राह्मण ही निंदापात्र बनता है । बस, इसी प्रकार कुशील व्यक्तियों के बीच रहने से कुशील चारित्रवाले को तो कुछ भी नुकसान नहीं है, परंतु सुविहित साधु को ही नुकसान होता है ।

सुखी लकड़ी के साथ रहने पर आर्द्र लकड़ी भी जल जाती है, बस, हल्के चारित्र वाले के संपर्क-संसर्ग से सच्चारित्रवान भी चारित्र से, शिथिल हुए बिना नहीं रहता है ।

जिस प्रकार पानी को ऊपर चढ़ाना हो तो मशीन या Force की अपेक्षा रहती है, परंतु वही पानी निम्न भाग की ओर तो सहज ही बहने लगता है । अनादि काल से आत्मा में मलिन संस्कार तो पड़े हुए ही हैं, वे संस्कार अशुभ निमित्त को पाकर जागृत हुए बिना नहीं रहते हैं, अतः अशुभ निमित्तों से सर्वथा दूर रहने में ही सुविहित मुनि की सुरक्षा है ।

उत्तमजणसंसग्गी, सीलदरिद्दं पि कुणइ सीलड्ढं ।
जह मेरुगिरिविलग्गं, तणं पि कणकत्तणमुवेइ ।।64।।

शब्दार्थ

उत्तमजण–श्रेष्ठ लोक,	**जह**–जिस प्रकार,
संसग्गी–संसर्ग,	**मेरुगिरि**–मेरु पर्वत,
सीलदरिद्दं–शील से दरिद्र,	**विलग्गं**–लगा हुआ,
पि–भी,	**तणं पि**–तृण भी,
कुणइ–करता है,	**कणकत्तणं**–स्वर्णत्व को,
सीलड्ढं–शीलसमृद्ध,	**उवेइ**–प्राप्त करता है ।

भावार्थ–सज्जन पुरुषों की संगति से शील से दरिद्र व्यक्ति भी शील संपन्न बनता है । जिस प्रकार मेरुपर्वत के संसर्ग से तृण भी सुवर्णत्व को प्राप्त करता है ।

विवेचन–गटर का गंदा पानी भी जब गंगा में मिलता है तो वह भी गंगा के समान पवित्र बन जाता है ।

सामान्य जल भी जब दूध में मिलता है तो दूध के सभी गुण उस पानी में आ जाते हैं ।

मेरु पर्वत सोने का है अतः उसके संसर्ग से वहाँ पैदा हुआ घास भी सोने जैसा दिखाई देता है ।

अतः अपने जीवन को दोषों से बचाना हो और गुणसमृद्ध बनाना हो तो साधु पुरुष अर्थात् उत्तम पुरुषों के साथ रहना चाहिए । पारसमणि के संसर्ग से लोहा भी सोना बन जाता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है । पारसमणि तो लोहे को सिर्फ सोना ही बनाता है जब कि उत्तम पुरुषों की संगति तो हमारी आत्मा को भी उत्तम बना देती है ।

सुलस जाति का कसाई था, कालसौकरिक अभव्य आत्मा का पुत्र था परंतु उसने बुद्धिनिधान अभयकुमार के साथ मैत्री का संबंध बाँधा तो उसे एकांत लाभ ही हुआ । दुर्जन की संगति आत्मा का पतन कराती है तो सज्जन की संगति आत्मा का उत्थान कराए बिना नहीं रहती है ।

नवि तं करेइ अग्गी, नेव विसं नेव किन्हसप्पो अ ।
जं कुणइ महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ।।65।।
कट्ठं करेसि अप्पं दमेसि अत्थं चएसि धम्मत्थं ।
इक्कं न चयसि मिच्छत्तं-विसलवं जेण बुड्डिहसि ।।66।।

शब्दार्थ

नवि–नहीं,
करेइ–करता है,
अग्गी–अग्नि,
नेव–नहीं,
विसं–विष,
किन्हसप्पो–काला साँप,
जं–जो,
कुणइ–करता है,
महादोसं–महादोष,
तिव्वं–तीव्र,
जीवस्स–जीव का,
मिच्छत्तं–मिथ्यात्व ।
कट्ठं–कष्ट,
करेसि–करते हैं,
अप्पं–धन का,
दमेसि–दमन करते हो,
अत्थं–धन का,
चएसि–त्याग करते हो,
धम्मत्थं–धर्म के लिए,
इक्कं–एक,
न चयसि–त्याग नहीं करते हो,
मिच्छत्तं–मिथ्यात्व,
विसलवं–विष कण,
जेण–जिससे,
बुड्डिसि–डूबते हो ।

भावार्थ–अग्नि, विष और काला सर्प भी जीव का उतना बड़ा नुकसान नहीं करते हैं, जैसा तीव्र नुकसान मिथ्यात्व करता है ।।65।।

तुम कष्ट सहन करते हो, आत्मा का दमन करते हो, धर्म के लिए धन का त्याग करते हो परंतु एक मिथ्यात्व रूप विष कण का त्याग नहीं करते हो जिससे तुम डूब रहे हो **।।66।।**

विवेचन–आग जलाने का काम करती है, आग को सर्वभक्षी कहा है । आग जड़ वस्तु को जलाती है, शरीर को जलाती है, परंतु आत्मा के आत्म गुणों का नुकसान नही कर सकती है ।

विष भी द्रव्य प्राणों का नाश करता है, खाने वाले को मूर्च्छित कर देता

है, मौत का भी कारण बनता है, परंतु आत्मिक गुणों को नष्ट करने की शक्ति विष में नहीं होती है ।

काला महासर्प आदमी को डसता है तो आदमी को मरना पड़ता है ।

आग, विष और महासर्प से भी अधिक नुकसान मिथ्यात्व के कारण होता है । आग और विष से व्यक्ति की एक ही बार मौत होती है जब कि मिथ्यात्व के पाप के कारण जीवात्मा का अनंत संसार बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप जीवात्मा को अनंतबार जन्म-मरण की पीड़ा सहन करनी पड़ती है ।

इस संसार में आत्मा नाना प्रकार के कष्टों को सहन करती है, कई बार तो धर्म के नाम पर भयंकर कष्टों को भी प्रसन्नता पूर्वक सहन कर लेती है ।

धर्म के नाम पर अपना अर्थात् अपनी इन्द्रियों का दमन भी करती है । शरीर के लिए या शरीर के विविध सुखों को पाने के लिए अनुकूल व रसप्रद स्वादिष्ट आहार का भी त्याग करती है । दान धर्म आदि के नाम पर हजारों लाखों रुपयों का दान भी करती है, परंतु आश्चर्य है कि वह मिथ्यात्व रूपी विष का त्याग नहीं करती है ।

इस संसार में आत्मा को सबसे ज्यादा नुकसान मिथ्यात्व के कारण हुआ है, फिर भी आश्चर्य है कि वह मिथ्यात्व को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है ।

मिथ्यात्व की भयंकरता को समझकर इस जीवन में मिथ्यात्व से बचने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए । विष, अग्नि आदि से होनेवाला नुकसान एक भव का हैं, जब कि मिथ्यात्व से होनेवाला नुकसान भवोभव का है ।

जयणा य धम्म जणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव वुड्ढिकरी जयणा, एगंत सुहावहा जयणा ।।67।।

शब्दार्थ

जयणा–यतना,	**तव**–तप,
धम्म जणणी–धर्म की माता,	**वुड्ढिकरी**–वृद्धि करने वाली,
धम्मस्स–धर्म की,	**एगंत**–एकांत,
पालणी–पालन करने वाली,	**सुहावहा**–सुख को लानेवाली ।

भावार्थ–यतना, धर्म को पैदा करने वाली है । यतना ही धर्म का पालन करनेवाली है । यतना ही तप की वृद्धि करनेवाली है और एकांत सुख को लानेवाली भी यतना ही है ।

विवेचन–यतना यह धर्म की माता है । यतना अर्थात् सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना, जिससे दोष कम लगे, जीव-विराधना कम-से-कम हो ।

किसी भक्त ने प्रभु महावीर को पूछा, **'प्रभु ! जीवन में किस प्रकार प्रवृत्ति की जाय जिससे पापकर्म का बंध न हो या थोडे पापकर्म का बंध हो ?'**

प्रभु ने कहा–**जो यतना पूर्वक चलता है, जो यतना पूर्वक खड़े रहता है, जो यतना पूर्वक बैठता है, जो यतनापूर्वक सोता है, जो यतनापूर्वक बोलता है और जो यतना पूर्वक भोजन करता है, वह व्यक्ति पाप कर्म का बंध नहीं करता है अथवा अल्प पापकर्म का बंध करता है ।**

जीवन है तो प्रवृत्ति होने ही वाली है परंतु वही प्रवृत्ति जब यतना पूर्वक होती है-तो वह यतना कहलाती है ।

यतनापूर्वक की प्रवृत्ति में धर्म का प्रवेश होता है । अर्थात् यतना ही धर्म की माता है ।

जीवन में पैदा हुआ धर्म भी `यतना' से ही जीवंत रहता है । जीवन में से यतना चली जाय तो धर्म भी चला जाएगा ।

जीवन में धर्म को बचाना हो, जीवन में धर्म का विकास करना हो तो जीवन में यतना को आत्मसात् करना ही होगा ।

यतना से ही जीवन में तप की वृद्धि होती है । जो तपस्वी होता है, वह अवश्य यतना युक्त होगा । जिसके जीवन में यतना नहीं वह तपस्वी कहला नहीं सकता ।

जं अज्जिअं चारित्तं, देसूणाए अ पुव्वकोडीए ।
तं पुण कसायमित्तो, हारेइ नरो मुहूत्तेण ।।68।।

शब्दार्थ

जं–जो,	**पुण**–भी,
अज्जिअं–अर्जित,	**कसायमित्तो**–कषाय मात्र,
चारित्तं–चारित्र,	**हारेइ**–हार जाता है,
देसूणाए–कुछ न्यून,	**नरो**–मनुष्य,
पुव्वकोडीए–पूर्व करोड़,	**मुहूत्तेण**–मुहूर्त से ।
तं–वह,	

भावार्थ–कुछ न्यून एक करोड़ पूर्व वर्ष का चारित्र पाला हो परंतु वह चारित्र भी मनुष्य के एक मुहूर्त के कषाय से हार जाता है ।

विवेचन–आग की एक चिनगारी लंबे-चौड़े जंगल को भी जलाकर खाक कर देती है । बस, इसी प्रकार कषाय में संयम रूपी उपवन को जलाकर खाक कर देने की ताकत है ।

जंगल को खड़ा होने में वर्षों लग जाते हैं परंतु उसको जलकर खाक होने में बहुत कम समय लगता है ।

महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान साधु-साध्वी आदि का उत्कृष्ट आयुष्य एक करोड़ पूर्व वर्ष का होता है । वहाँ कोई पुण्यशाली आत्मा मात्र आठ वर्ष की लघु वय में दीक्षा अंगीकार कर एक करोड़ पूर्व वर्ष के चारित्र का पालन कर सकता है । इस प्रकार उत्कृष्ट संयम पर्याय आठ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व वर्ष का हो सकता है । इतने लंबे समय तक अत्यंत ही सावधानी पूर्वक संयम धर्म का पालन किया हो परंतु क्रोध आदि कषायों की आग उस संयम की साधना को जलाकर भस्मीभूत कर देती है ।

क्रोध की 'सज्झाय' में ठीक ही कहा है–

''क्रोध सहित जे तप करे तो लेखे न थाय ।
क्रोधे क्रोड पूरवतणुं संयम फल जाय ।''

क्रोध सहित चाहे जितना तप किया जाय परंतु उस तप की कोई गिनती भी नहीं है अर्थात् उस तप का कोई मूल्य नहीं है ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व विणासणो ।।69।।

शब्दार्थ

कोहो–क्रोध,	**मित्ताणि नासेइ**–मैत्री का नाश करती है,
पीइं–प्रीति को,	**लोहो**–लोभ,
पणासेइ–नष्ट करता है,	**सव्व**–सभी का,
माणो–मान,	**विणासणो**–विनाशक है ।
विणयनासणो–विनय का नाशक,	
माया–कपट,	

भावार्थ–क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है । माया मैत्री का नाश करती है और लोभ सबका नाश करता है ।

विवेचन–जिस प्रकार आग लकड़ी के ढेर को जलाकर भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार क्रोध की आग पारस्परिक-प्रेम को जलाकर खाक कर देती है । वर्षों से रहे परस्पर-प्रेम को नष्ट करने की ताकत क्रोध की चिनगारी में है ।

अभिमानी व्यक्ति का व्यवहार अकड़पूर्वक ही होता है । बात-बात में वह अपने अहंभाव का प्रदर्शन किए बिना नहीं रहता है । अभिमानी व्यक्ति दूसरों का जल्दी तिरस्कार कर देता है । इस प्रकार अभिमान से अपना विनय गुण नष्ट होता है । माया-कपटपूर्ण आचरण मित्रता-मैत्री का नाश करती है ।

लोभी व्यक्ति अपने धन में बाधक बनने वाले व्यक्ति पर क्रोध भी करेगा । लोभी व्यक्ति को प्राप्त धन-संपत्ति का अभिमान भी होता है । लोभी व्यक्ति धन को पाने के लिए येन-केन उपाय से माया-प्रपंच भी किए बिना नहीं रहेगा ।

क्रोध-मान-माया और लोभ ये चार चांडाल-चौकड़ी है । इनके जाल में लेश भी फँसने जैसा नहीं है ।

दान का फल वस्तु पर नहीं,
वृत्ति पर आधारित है ।

खंती सुहाण मूलं मूलं धम्मस्स उत्तमा खंती ।
हरइ महाविज्जा इव खंती दुरियाइं सव्वाइं ।।70।।

शब्दार्थ

खंती–क्षमा,
सुहाण मूलं–सुखों का मूल,
धम्मस्स–धर्म का,
उत्तमा खंती–उत्तम क्षमा,
हरइ–हरता है,
महाविज्जा–महावैद्य,
इव–की तरह,
दुरियाइं–पाप (दुरितसमूह को)
सव्वाइं–सभी ।

भावार्थ–सभी सुखों का मूल क्षमा है । धर्म का मूल भी श्रेष्ठ क्षमा है । महावैद्य की तरह क्षमा ही सभी दुःखों को दूर करती है ।

विवेचन–मोक्षसुख की प्राप्ति का मूल रत्नत्रयी की आराधना-साधना है और संयम जीवन की साधना का मूल क्षमा धर्म की साधना है ।

इस प्रकार कह सकते हैं कि मोक्ष के सुख और इस लोक और परलोक के सभी प्रकार के सुखों का मूल क्षमा धर्म की साधना है ।

साधु अर्थात् क्षमाश्रमण, क्षमा धर्म को जीवन में आत्मसात् करने के लिए जो सतत प्रयत्नशील हैं, वे साधु कहलाते हैं । संवत्सरी-प्रतिक्रमण का मूल भी चौरासी लाख जीव योनियों में रहे सभी जीवों के साथ हार्दिक क्षमापना ही है । यदि सच्ची क्षमापना होती है तो वह प्रतिक्रमण सफल और सार्थक है और क्षमापना नहीं होती है तो चाहे जितने प्रतिक्रमण या संवत्सरी प्रतिक्रमण करें वे सब निष्फल ही हैं ।

मृत्यु को समाधि मृत्यु में बदलना हो तो उसका भी मूल जगत् के जीव मात्र के साथ सच्चे हृदय से क्षमापना करना ही है । मृत्यु की अन्तिम वेला में भी किसी भी एक जीव के साथ हृदय में वैर-विरोध हो जाए तो वह साधना निष्फल हो जाती है, आत्मा आराधक बनने के बजाय विराधक बन जाती है ।

साधु की दशविध समाचारी में भी **'मिच्छाकार'** समाचारी का खूब महत्त्व है अर्थात् साधु जीवन में जैसे ही जानते-अजानते कोई भूल हो जाए तो उसके बदले तुंरत ही **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** कर देना चाहिए ।

जिस प्रकार एक महावैद्य की चिकित्सा से सभी प्रकार के भयंकर रोग भी नष्ट हो जाते है, उसी प्रकार क्षमा धर्म की आराधना से सभी प्रकार के पाप कर्म जलकर समाप्त हो जाते हैं अतः खूब आदर व बहुमानपूर्वक अपने जीवन में क्षमा धर्म का अभ्यास करना चाहिए ।

'ये चारों कषाय मिलकर आत्मा के पुनर्जन्म की परंपरा के मूल का सिंचन करते रहते हैं ।'

वृक्ष के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जड़ का अस्तित्व अनिवार्य है । वृक्ष की जड़ काट दी जाए तो वह वृक्ष लंबे समय तक टिक नहीं सकता है । जड़ कटने के साथ ही वृक्ष का अस्तित्व खतरे में आ जाता है । बस, इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चार कषाय आत्मा के संसार परिभ्रमण रूपी वृक्ष का सिंचन करते रहते हैं ।

जल से जड़ का सतत सिंचन किया जाय तो वह वृक्ष मजबूत बनता जाता है, बस इसी प्रकार ये चारों कषाय आत्मा की भव-परंपरा को मजबूत करते रहते हैं ।

–विश्व-विजेता बनना सरल है ।

–क्रोध-विजेता बनना कठिन है ।

पुण्य और शास्त्र के बल से वासुदेव तीन खंड के अधिपति बन जाते हैं तो चक्रवर्ती छह खंड के अधिपति बन जाते हैं । 32000 मुकुटबद्ध राजा चक्रवर्ती के चरणों में नतमस्तक रहते हैं । अनेक देवतागण भी चक्रवर्ती का सान्निध्य करते हैं परन्तु महाआश्चर्य है कि छह खंड जीतनेवाला चक्रवर्ती भी अपने आप पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता है । वह अंतरंग शत्रुओं के आगे घुटने टेक देता है । युद्ध में लाखों पर विजय प्राप्त करने वाला भी क्रोधादि कषायों के सामने हार खा जाता है । इसीलिए तो कहा गया है कि विश्व विजेता बनना सरल है, परन्तु क्रोध विजेता बनना अत्यंत कठिन है ।

अंगेजी में I हमेशा Capital लिखा जाता है । वह I अहंकार का प्रतीक है । अहंकार का नाश किए बिना तुम परमात्मा के द्वार पर नहीं पहुँच सकोगे ।

माया कपट का आश्रयकर आत्मा संसार को ही बढ़ाती है ।

धन, स्त्री और सत्ता की प्राप्ति का लोभ भी महा अनर्थकारी है, लोभ से भी आत्मा का संसार बढ़ता जाता है ।

धन के लोभ से मम्मणसेठ मरकर 7 वीं नरक में चला गया ।

स्त्री के लोभ में रावण मरकर चौथी नरक में चला गया ।

सत्ता के लोभ से कोणिक ने अपने पिता को ही जेल में डाल दिया और अपना संसार बढा दिया । सावधान रहें इन चारों कषायों से ! ये कषाय अपनी आत्मा के ज्ञानादि आत्मधन को लूटनेवाले ही हैं ।

अवसर

समय और `अवसर' हाथ में से निकल जाने के बाद
वापस उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।
मानव जीवन के अमूल्य क्षण आत्म-साधना के लिए
अपूर्व-अवसर हैं, उन्हें सांसारिक मौज
मजा में नष्ट करना अपनी मुर्खता ही है ।

सयं गेहं परिच्चज्ज परगेहंमि वावडे ।
निमित्तेण ववहरइ, पावसमणो त्ति वुच्चइ ॥71॥

शब्दार्थ

सयं–स्वय,	**निमित्तेण**–निमित्त बताकर,
गेहं–घर,	**पावसमणो**–पापश्रमण,
परिच्चज्ज–त्यागकर,	**त्ति**–है,
परगेहंमि–दूसरे के घर में,	**वुच्चइ**–कहा जाता है ।
वावडे–व्यापार करता है,	

भावार्थ–स्वयं अपने घर का त्यागकर निमित्त आदि बताकर दूसरे के घर में प्रवृत्ति करता है वह पापश्रमण है, ऐसा कहा जाता है ।

विवेचन–साहूकार का वेश धारण करके भी जो चोरी का धंधा करता है, वह सिर्फ नाम से साहूकार कहलाता है ।

उसी प्रकार श्रमण का वेष धारण करते हुए भी जो श्रमण जीवन से विरोधी प्रवृत्ति करता है वह नाम से ही श्रमण अर्थात् पापश्रमण कहलाता है ।

अपने घर का त्यागकर जो आत्म कल्याण के लिए क्षमा आदि धर्म की साधना करता है, वह सच्चा श्रमण कहलाता है, परंतु जो गृह का त्याग करते हुए भी अन्य को निमित्त आदि बताकर भविष्य का कथनकर अपनी आजीविका चलाता है, वह पापश्रमण ही कहलाता है ।

किसी गृहस्थ को ज्योतिष आदि बताकर भविष्य का कथन करना अथवा घर-दुकान आदि का मुहूर्त बतलाना, कौनसा व्यापार करोगे तो व्यापार में लाभ होगा ? इत्यादि बताना साधु जीवन की मर्यादा से विरुद्ध कहलाता है । इस प्रकार की प्रवृत्ति करने से अपना साधु जीवन भी कलंकित होता है । ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला सच्चा साधु भी नहीं कहलाता है ।

पापश्रमण अर्थात् अपने पापाचार द्वारा श्रमणपने को कलंकित करनेवाला ।

पापश्रमण स्वयं तो डूबता ही है परंतु उसके संपर्क में आनेवाले को भी डूबाता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान महावीर प्रभु ने साधु के लिए कई ऐसी निषिद्ध प्रवृत्तियाँ बताई हैं जिनके सेवन से साधु पापश्रमण कहलाता है ।

पापश्रमण अपनी प्रवृत्तियों द्वारा अपने संयम के फल को हार जाता है ।

दुद्ध दही विगइओ, आहारेइ अभिक्खणं ।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणो त्ति वुच्चई ।।72।।

शब्दार्थ

दुद्ध–दूध,	**अरए**–रत नहीं रहता है,
दही–दही,	**य**–तथा,
विगइओ–विगई,	**तवोकम्मे**–तप कर्म में,
आहारेइ–आहार करता है,	**पावसमणो**–पापश्रमण,
अभिक्खणं–बार-बार	**वुच्चई**–कहलाता है ।

भावार्थ–जो साधु बार-बार दूध-दही आदि विगइयों का सेवन करता है और तप कर्म में रत नहीं रहता है, वह पापश्रमण है, इस प्रकार कहा जाता है ।

विवेचन–दूध, दही, घी, तेल, गुड़ तथा पक्वान्न आदि विगई कहलाते हैं । विगई अर्थात् मन में विकार वासना पैदा करनेवाले ।

पाँच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य की सबसे अधिक मुख्यता है । इस महाव्रत के रक्षण के लिए शास्त्र में नौ बाड़ों का विधान किया गया है ।

प्रणीत आहार अर्थात् दूध-दही आदि विगइयों का सेवन ।

शारीरिक अशक्ति तथा तप आदि के कारण साधु को विगइयों का सेवन करना भी पड़े तो भी उसका सेवन अल्प प्रमाण में करना चाहिए । ज्यादा प्रमाण में विगइयों का सेवन करने से मन में कामवासना को उत्तेजन मिलता है । जिसके मन में कामवासना पैदा होती है, उसकी वाणी में भी विकार भाव आता है, ऐसा व्यक्ति प्रायः करके ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट बनता है ।

अनादि काल से आत्मा में रही हुई मैथुन संज्ञा के नाश के लिए साधु को ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ो का दृढ़ता से पालन करना चाहिए .

जिस प्रकार खेत के चारों ओर बाड़ न हो तो खेत में बोया हुआ या उगा हुआ अनाज सुरक्षित नहीं रहता है, उसी प्रकार आहार का त्याग न हो तो ब्रह्मचर्य का पालन अतिदुष्कर हो जाता है ।

ब्रह्मचर्य के पालन के लिए ही शास्त्र में विविध प्रकार के कायकष्ट रूप

बाह्य तप बतलाए हैं, उन तपों के सेवन से संयम सुरक्षित रहता है । जो साधु तप धर्म की उपेक्षा करके बार-बार निष्कारण दूध-दही का सेवन करता है उसका श्रमणत्व सुरक्षित कैसे रहेगा ? ऐसा श्रमण तो पापश्रमण ही कहलाता है ।

तप तो साधु जीवन का अलंकार है । आहार पर नियंत्रण लाए बिना रत्नत्रयी की आराधना-साधना संभव ही नहीं है । इसीलिए साधु को न्यूनतम **'एगभत्तं च भोयणं'** अर्थात् एकासने का विधान किया गया है ।

बार बार भोजन करने से भी आत्म विकास की साधना में अवरोध पैदा होता हैं तो उसी प्रकार रसप्रद विगइयों का भोजन लेने से भी ब्रह्मचर्य को हानि होती है । इसीलिए जैन साधु को शक्य हो तो एक मात्र शरीर को टिकाने के लिए अंत-प्रांत और निरस आहार लेने की ही आज्ञा है ।

विगइयों के सेवन से विकार भाव को पुष्टि मिलती हैं, अतः आत्म हित के इच्छुक को शक्य हो तो विगइयों का त्याग ही करना चाहिए । आयंबिल के आहार में विगइयों का सर्वथा त्याग होता हैं, अतः वह आहार सात्त्विक कहलाता है ।

विश्वास

जिस विषय में हम अज्ञानी होते हैं,
उस विषय में ज्ञानी वचन पर विश्वास करते हैं ।
तो फिर सर्वज्ञ द्वारा निर्दिष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों में
अश्रद्धा क्यों ? हमारी बुद्धि नहीं पहुँचती है तो
उनके वचनों पर विश्वास करना ही चाहिए ।

मज्जं विसय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया ।
एए पंच पमाया, जीवं पाडेंति संसारे ।।73।।

शब्दार्थ

मज्जं–मद्य,	**भणिया** –कही गई है,
विसय–विषय,	**एए**–ये,
कसाया–कषाय,	**पंच पमाया**–पाँच प्रमाद,
निद्दा–निद्रा,	**जीवं**–जीव को,
विगहा–विकथा,	**पाडेंति**–गिराते हैं,
य–तथा,	**संसारे**–संसार में ।
पंचमी–पाँचवीं,	

भावार्थ–मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और पाँचवीं विकथा कही है । ये पाँच प्रमाद जीव को संसार में डुबोते हैं ।

विवेचन–अपनी आत्मा को संसार सागर में डुबोने वाले पाँच प्रमाद हैं ।

1. मद्य :- मद्य अर्थात् शराब । नशीली वस्तु । मद्यपान से बुद्धि भ्रष्ट होती है । बुद्धि भ्रष्ट होने पर व्यक्ति अनेक प्रकार के पापाचरण करता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा दुर्गति में जाती है अतः अनर्थकारी मद्यपान से सदैव बचना चाहिए ।

2. विषय :- शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं । इनके सेवन में अल्पसुख है, परंतु परिणाम में भयंकर दुःख है । विषय का सुख किंपाक के फल के समान परिणाम में दुःखदायी है । खुजली के दर्दी को खुजलाने में आनंद आता है, परंतु परिणाम में तो पीड़ा की ही वृद्धि होती है, उसी प्रकार विषयसुख का भोग प्रारंभ में तो मीठा लगता है, परंतु परिणाम में कटुविपाकी है ।

3. कषाय :- अपनी आत्मा के भावी संसार को बढ़ाने का काम ये कषाय करते हैं । इसके चार भेद हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ । अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से इन कषायों के सोलह भेद भी होते हैं ।

4. निद्रा :- दर्शनावरणीयकर्म के उदय से यह प्रमाद दोष पैदा होता है । इसके भी पाँच भेद हैं । अतिनिद्रालु व्यक्ति श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता है ।

5. विकथा :- स्त्री कथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा ये चार विकथाएँ कहलाती हैं । इन पाँच प्रकार के प्रमाद के सेवन से आत्मा कर्म के भार से भारी बनती है और कर्म से भारी बनी आत्मा संसार-सागर में डूब जाती है ।

जइ चउदस पुव्वधरो, वसइ निगोएसु णंतयं कालं ।
निद्दा पमायवसगो, ता होहिसि कह तुमं जीव ।।74।।

शब्दार्थ

जइ–यदि,
चउदस पुव्वधरो–चौदह पूर्वधर,
वसइ–रहते हैं,
निगोएसु–निगोद में,
णंतयं–अनंत,
कालं–काल,
निद्दा–निद्रा,
पमायवसगो–प्रमाद के अधीन
ता–तो,
होहिसि–होगा,
कह–कैसे,
तुमं–तुमको,
जीव–हे जीव ।

भावार्थ–निद्रा प्रमाद के वशीभूत होकर यदि चौदहपूर्वधर महर्षि भी अनंतकाल तक निगोद में रहते हैं तो हे जीव ! तुम्हारी क्या हालत होगी ?

विवेचन–संसारी जीवों को यद्यपि पाँचों प्रकार के प्रमाद परेशान करते रहते हैं, संयमी आत्मा यदि जागृत रहे तो पाँचों प्रकार के प्रमाद से बच सकती है । संयमी आत्मा यदि सावधान न रहे तो प्रमाद के अधीन होकर बहुत कुछ गवाँ देती है ।

रसनेन्द्रिय की लोलुपता के कारण कई संयमी आत्माओं का अधःपतन हुआ है ।

कठोर व उग्र स्वभाव के कारण भी कई संयमियों के भावप्राण नष्ट हो गए हैं ।

रसप्रद आहार और अति आहार लेने से संयमी आत्मा भी निद्रा रूपी प्रमाद के अधीन हो जाती है । निद्रा में मानव जीवन की अमूल्य क्षणें व्यर्थ ही नष्ट हो जाती हैं ।

शास्त्रकार लिखते हैं कि निद्रा रूपी प्रमाद के अधीन होकर चौदह पूर्वधर महर्षि भी अपने श्रुत को भूल जाते हैं और मरकर निगोद में चले जाते हैं ।

यद्यपि नरक में व्यक्त पीड़ा है और निगोद में अव्यक्त पीड़ा है फिर भी नरक से निगोद भयंकर है ।

नरक में पैदा हुई आत्मा मरकर पुनः दूसरे भव में नरक में पैदा नहीं होती है जब कि निगोद में गई आत्मा वहाँ अनंता भवों तक रह सकती है ।

निगोद की कायस्थिति अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल है ।

एक बार निगोद में चले जाने के बाद वहाँ से बाहर निकलना बहुत ही कठिन कार्य है । वहाँ जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है । अपने एक श्वासोच्छ्वास में निगोद के जीव के कई भव हो जाते हैं ।

एत अन्तर्मुहूर्त में निगोद जीव के 65536 भव हो जाते हैं ।

हे आत्मन् ! तू जरा विचार कर–

चौदह पूर्वधर महर्षि जो श्रुतकेवली कहलाते हैं, एक अन्तर्मुहूर्त काल में अपने चौदह पूर्वों का स्वाध्याय कर पाते हैं ।

चौदह पूर्व में श्रुत ज्ञान की पराकाष्ठा है-ऐसी महान् ज्ञानी आत्माओं का भी निद्रा प्रमाद के कारण इतना अधिक अधः पतन हो सकता है तो जरा सोचो, तुम्हारी क्या हालत होगी ? तुम्हारे पास तो एक पूर्व का भी ज्ञान नहीं है । पूर्व का अंश भी नहीं है । अतः तुम्हे खूब सावधान रहना है ।

साधु को दिन में सोना नहीं चाहिए क्योंकि सोने में कितना समय निकल जाता है, उसका पता ही नहीं चलता है । इसलिए निद्रा को समय भक्षी भी कहा गया है ।

साधु को रात्रि में भी दो प्रहार से अधिक निद्रा का निषेध है तो उसके साथ दिन में भी सोने का निषेध है ।

साधु को दिन-रात में कुल पांच प्रहर तक स्वाध्याय का विधान है । इस स्वाध्याय द्वारा वह अपने प्रमाद को दूर कर सकता है ।

हयं नाणं क्रियाहीणं, हया अन्नाणओ क्रिया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ।।75।।
संजोग सिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगु य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ।।76।।

शब्दार्थ

हयं नाणं–ज्ञान निरर्थक है,
क्रियाहीणं–क्रिया रहित,
हया–व्यर्थ है,
अन्नाणओ–अज्ञान से,
क्रिया–क्रिया,
पासंतो–देखता हुआ,
पंगुलो–पंगुल,
दड्ढो–जल गया,
धावमाणो–दौड़ता हुआ,
अंधओ–अंधा ।
संजोग सिद्धीइ–संयोग सिद्धि से,
फलं–फल,
वयंति–कहते हैं,
न–नहीं,
एगचक्केण–एक चक्र से,
रहो–रथ,
पयाइ–चलता है,
अंधो–अंध,
पंगु–लंगड़ा,
वणे–वन में,
समिच्चा–साथ होकर,
ते–वे,
संपउत्ता–पहुँच कर,
नगरं–नगर में,
पविट्ठा–प्रवेश किया ।

भावार्थ–क्रियारहित ज्ञान और ज्ञानरहित क्रिया निरर्थक है । देखता हुआ पंगु जल गया और भागता हुआ अंधा जल गया ।

ज्ञान और क्रिया दोनों के संयोग से फल पैदा होता है । एक चक्र से रथ नहीं चलता है । अंधा और पंगु दोनों जुड़ गए तो सुरक्षित रूप से नगर में पहुँच गए ।

हयं नाणं क्रियाहीणं

क्रियारहित ज्ञान निरर्थक है ।

ज्ञान अर्थात् जानकारी । वस्तु का पदार्थ बोध । ज्ञन तभी सार्थक है, जब उस ज्ञान के साथ क्रिया जुड़ती है । ज्ञान के साथ यदि आचरण न हो तो उस ज्ञान का अर्थ नहीं है ।

'जहर खाने से आदमी मर जाता है' यह जानकारी होने पर भी कोई व्यक्ति जीने की इच्छा से जहर खाता हो तो उसके उस ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है ।

'आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है ।' इस प्रकार का बोध होने पर भी यदि कोई आग में हाथ डालने की कोशिश करे तो उसे मूर्ख ही कहा जाएगा ।

ज्ञान का वास्तविक फल है-हेय का त्याग करना और उपादेय को ग्रहण करना ।

उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य ! जो ग्रहण करने योग्य हो उसे ग्रहण करने की प्रवृत्ति को उपादेय कहा जाता है ।

ज्ञान आँख के स्थान पर है तो क्रिया पाँव के स्थान पर है । आँख मार्ग देखने का काम करती है, परंतु चलने का काम तो पाँव ही करते हैं । अतः लक्ष्यस्थल पर पहुँचना हो तो ज्ञान के साथ क्रिया भी जरूरी है । जो व्यक्ति क्रिया की उपेक्षा कर सिर्फ ज्ञान पर ही भार देते हैं, वे व्यक्ति मार्ग भूल हुए हैं ।

ज्ञान रहित क्रिया अंधे व्यक्ति के समान है । अंधा व्यक्ति मार्ग देख नहीं सकता है, परंतु चल सकता है । क्रिया से रहित ज्ञान पंगु व्यक्ति के समान है । पंगु व्यक्ति देख सकता हैं, किंतु चल नहीं सकता है । मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने केलिए सिर्फ ज्ञान ही नहीं, क्रिया भी चाहिए ।

जीवन में ज्ञान के साथ क्रिया की उपेक्षा करने जैसी नहीं है ।

संसार में सर्वत्र स्वार्थ की बोलबाला है ।
जब तक इच्छा पूर्ति होती हो,
तभी तक पत्नी प्रेम करती है । पुत्र सेवा करता हैं,
तभी माता–पिता को पसंद पडता है ।

सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीव सयसहस्सकोडी वि ।।77।।
अप्पं पि सुयमहीयं, पगासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुयस्सा पयासेइ ।।78।।

शब्दार्थ

सुबहुं पि–ज्यादा भी,	**अप्पं पि**–थोड़ा भी,
किं काही–क्या करेगा ?	**सुयमहीयं**–श्रुत सीखा,
चरणविप्पहीणस्स–चारित्रहीन,	**पगासयं**–प्रकाशक,
अंधस्स–अंधे को,	**होइ**–होता है,
जह–जिस प्रकार,	**चरणजुत्तस्स**–चारित्र युक्त का,
पलित्ता–प्रदीप्त,	**इक्को वि**–एक भी,
दीव–दीपक,	**पईवो**–दीपक,
सयसहस्स–लाख,	**सचक्खुयस्सा**–आंखवाले को,
कोडी वि–करोड़ भी ।	**पयासेइ**–प्रकाशित करता है ।

भावार्थ–ज्यादा भी श्रुत पढ़ा हो, परंतु चारित्र से जो हीन है, उसे क्या फायदा ? प्रदीप्त ऐसे लाखों-करोड़ों दीपक भी अंधे को फायदा नहीं करते हैं । थोड़ा भी श्रुत पढ़ा हो तो भी चारित्रयुक्त को प्रकाशित करता है । एक भी दीपक चक्षुवाले को प्रकाश देता है ।

विवेचन–ज्ञान का फल चारित्र है । भोजन का फल क्षुधातृप्ति है । पानी का फल तृषा शांति है । अनेक-अनेक आगम शास्त्रों का ज्ञान प्राप्तकर लिया, परंतु उस ज्ञान के फलस्वरूप जीवन में चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई तो उस पढ़े हुए ज्ञान से भी क्या फायदा ? हजारों लाखों या करोड़ों दीपक भी जला दिए जायें तो भी उन दीपकों से अंधे व्यक्ति को कोई फायदा नहीं होती है । दवाई की सफलता रोग के नाश में है । दवाई लेते ही जाय परंतु रोग यदि शांत नहीं होता हो तो उस दवाई लेने से भी क्या फायदा ?

थोड़ा भी ज्ञान सीखें, परंतु जो चारित्र संपन्न है उसे वह ज्ञान फायदा ही करता है । सिर्फ एक ही दीपक क्यों न हो परंतु आप के पास में आँख है तो वह आपको फायदा किए बिना नहीं रहता है ।

दंसणवय सामाइय पोसह पडिमा अबंभ सच्चित्ते ।
आरंभपेस उद्दिट्ठ वज्जए समणभूए अ ।।79।।

शब्दार्थ

दंसणवय–दर्शन, व्रत,	**सच्चित्ते**–सचित्त,
सामाइय–सामायिक,	**पेस**–प्रेषण,
पोसह–पौषध,	**उद्दिट्ठ**–उद्दिष्ट,
पडिमा–प्रतिमा,	**वज्जए**–त्याग करे,
अबंभ–अब्रह्मचर्य,	**समणभूत**–श्रमणभूत ।

भावार्थ–दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, कायोत्सर्ग, अब्रह्मवर्जन, सचित्तवर्जन, आरंभवर्जन, प्रेष्यवर्जन, उद्दिष्ट वर्जन, श्रमणभूत इस प्रकार श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं ।

विवेचन–श्रावक की कुल ग्यारह प्रतिमाएं है । पहली प्रतिमा एक मास की, दूसरी दो मास की इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा ग्यारह मास की होती है ।

आगे की प्रतिमा वहन करते समय पूर्व की प्रतिमा के नियमों का भी अवश्य पालन करने का होता है ।

1. दर्शन प्रतिमा :- यह प्रतिमा शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य आदि पाँच गुणों से युक्त तथा शंका-कांक्षा आदि अतिचारों से रहित होती है । इस प्रतिमा में राजाभियोग आदि छह आगारों से रहित सम्यक्त्व का दृढ़तापूर्वक पालन होता है ।

इस प्रतिमा में त्रिकाल जिनपूजा होती है ।

2. व्रत प्रतिमा :- इस प्रतिमा में 5 अणुव्रत 3 गुणव्रत और 4 शिक्षा व्रत रूप बारह व्रतों का स्वीकार होता है ।

3. सामायिक प्रतिमा :- इस प्रतिमा में बारह व्रतों के पालन के साथ सुबह-शाम सामायिक की आराधना होती है ।

4. पौषध प्रतिमा :- इस प्रतिमा में श्रावक के 12 व्रतों के 60 अतिचारों के त्याग पूर्वक 12 व्रतों का पालन होता है तथा अष्टमी चतुर्दशी व पूनम-अमावस्या के दिन पौषधव्रत का पालन होता है ।

5. कायोत्सर्ग प्रतिमा :- अष्टमी आदि पर्वतिथियों में संपूर्ण रात्रि में चारों दिशाओं में कायोत्सर्ग रूप यह कायोत्सर्ग प्रतिमा होती है । यह प्रतिमा पाँच मास की होती है । कायोत्सर्ग सिवाय के दिनों में भी इस प्रतिमा दरम्यान स्नान का त्याग होता है । रात्रि में चारों आहार का त्याग होता है । दिन में ब्रह्मचर्य का संपूर्ण पालन व रात्रि में भी स्त्री भोग का परिमाण होता है ।

6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा :- पूर्व प्रतिमा की क्रियाओं से युक्त इस प्रतिमा में छह मास ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं । इस प्रतिमा में श्रृंगार-कथा, शरीर की विभूषा, स्त्री कथा आदि का भी त्याग होता है ।

7. सचित्त वर्जन :- इस प्रतिमा में पहले की प्रतिमाओं के नियम पालन पूर्वक 7 मास तक सर्वथा सचित्त का त्याग होता है ।

8. आरंभ वर्जन :- इस प्रतिमा में आठ मास तक सभी प्रकार के आरंभ का त्याग किया जाता है । जिन पूजा के लिए भी उष्ण जल से ही स्नान किया जाता है । **'पूजा बिना भोजन नहीं करूंगा ।'** इस नियमवाले के लिए उष्ण जल से स्नान का विधान है ।

9. प्रेष्य वर्जन प्रतिमा :- इस प्रतिमा में नौ मास तक नौकर आदि द्वारा भी सभी प्रकार के आरंभ का त्याग किया जाता है । इस प्रतिमा में कपूर आदि सुगंधित पदार्थों से जिनपूजा करते हैं ।

10. उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा :- इस प्रतिमा में मुंडन अथवा लोच कराते हैं पात्र आदि संयम के उपकरण लेकर अपने कुल की निश्रावाले घरों में या साधर्मिक के घरों में भिक्षा के लिए जाते हैं । और

'प्रतिमाधारी मुझको भिक्षा दो' ऐसा कहता है । इस प्रतिमा वाला 16 मास तक साधु की बस्ती में नहीं रहता है । प्रमाद रहित होकर विहार करता है । भावस्तव से युक्त इस प्रतिमा में द्रव्यस्तव नहीं करता है ।

इन प्रतिमाओं के स्वीकार के बाद भाव आ जाय तो दीक्षा भी लेता है और भाव न आए तो श्रावक धर्म का पालन करता है ।

संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइजणाओ निसुणेइ ।
सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं बिंति ।।80।।

शब्दार्थ

संपत्त–संप्राप्त,	**परमं**–श्रेष्ठ,
दंसणाई–दर्शन आदि,	**जो**–वह,
पइदियहं–प्रतिदिन,	**खलु**–वास्तव में,
जइजणाओ–साधु जन से,	**तं**–उसको,
निसुणेइ–सुनता है,	**सावगं**–श्रावक,
सामायारिं–सामाचारी को,	**बिंति**–कहते हैं ।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त, जो प्रतिदिन साधु के पास श्रेष्ठ सामाचारी का श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं ।

विवेचन–सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र का भी अभाव कहा गया है । चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है, इसीलिए सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो सर्वविरति चारित्र होता है और न ही देशविरति अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि है, वह कभी श्रावक नहीं कहला सकता है ।

सम्यग्दर्शन से युक्त श्रावक यथाशक्ति अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों को भी स्वीकार करता है ।

श्रावक के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए इस गाथा में कहा है कि साधु-श्रावक को प्रतिदिन सद्गुरु के पास साधु-श्रावक की सामाचारी का श्रवण करना चाहिए । श्रावक को श्रावक की सामाचारी का ख्याल हो तो अपने योग्य आचारपालन में सतत उद्यमशील रह सकता है ।

आचार पालन में कहीं भूल होती हो तो श्रावक को यह पता लग सकता है कि मैं कहाँ भूल कर रहा हूँ ।

अपनी सामाचारी का ही पता न हो तो उसे अपनी भूलों का ख्याल कैसे आएगा ? श्रावक को साधु की सामाचारी का ज्ञान हो तो वह साधु को आचार-पालन में सहायक बन सकता है ।

कभी जाने-अनजाने में साधु यदि कोई भूल करता हो तो सुयोग्य श्रावक साधु को अपनी भूल सुधारने के लिए योग्य प्रेरणा भी कर सकता है । साधु की सामाचारी का ज्ञान हो तो भविष्य में साधु बनकर उन आचारों का अच्छी तरह से पालन भी कर सकता है ।

जहा खरो चंदण भारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सोगईए ।।81।।

शब्दार्थ

जहा–जिस प्रकार,	**एवं खु**–इसी प्रकार,
खरो–गधा,	**नाणी**–ज्ञानी,
चंदण–चंदन,	**चरणेण हीणो**–चारित्र से हीन,
भारवाही–भार को वहन करनेवाला,	**नाणस्स**–ज्ञान का,
भारस्स भागी–भार का भागी,	**भागी**–भागीदार,
न हु–नहीं,	**न हु**–नही,
चंदणस्स–चंदन का,	**सोगईए**–सद्गति का ।

भावार्थ–चंदन के भार का वहन करनेवाला गधा, भार का भागी होता है, परंतु चंदन की सुगंध का नहीं । उसी प्रकार चारित्र से हीन साधु ज्ञान का भागी होता है परंतु सद्गति का नहीं ।

विवेचन–अपनी पीठ पर चंदन के भार को वहन करनेवाले गधे के भाग्य में सर्फ चंदन का भार ही होता है । चंदन की सुगंध पाने का सौभाग्य उसके भाग्य में नहीं होता है, इसी प्रकार जो चारित्र से हीन है परंतु खूब ज्ञानी है ऐसा व्यक्ति ज्ञान के भार को वहन करता है, उसके फल को प्राप्त नही करता है ।

ज्ञान का फल तो विरति अर्थात् चारित्र है । चाहे जितना ज्ञान जीवन में हासिल कर लिया हो, परंतु यदि उस ज्ञान को आचरण में लाने के लिए जीवन में क्रियारुचि नहीं है तो वह ज्ञान आत्मा को महान् लाभ नहीं कर पाता है ।

अग्नि जलाती है, यह ज्ञान होने के बाद भी यदि कोई बालक आग में हाथ डालता है तो वह मूर्ख ही कहलाएगा ।

अग्नि की भयंकरता का ज्ञान होने के बाद अग्नि से बचने का प्रयास करना उसी में ज्ञान की सार्थकता है ।

विष का ज्ञान हो जाय फिर भी विष का भक्षण करे तो वह मूर्ख ही कहलायेगा ।

ज्ञान आँख है और क्रिया पाँव है । आँख हो लेकिन पाँव न हों तो व्यक्ति मार्ग को देख सकता है, परंतु मार्ग पर चल नहीं सकता है, उसी प्रकार पाँव हों लेकिन आँख न हो तो व्यक्ति मार्ग को जान सकता है, परंतु उस पर चल नहीं सकता है । लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दोनों जरूरी हैं ज्ञान और क्रिया ।

जीवन में ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़े त्यों-त्यों सद् आचरण बढ़ना ही चाहिए ।

सद् आचरण से रहित ज्ञानी तो ज्ञान के भार को ढोने वाला भारवाहक-मजदूर ही है ।

ज्ञान भंडार की अलमारी में सैकड़ों पुस्तकें होती हैं परंतु उस ज्ञान का लाभ उस अलमारी को प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञानी बने परंतु जीवन आचरण-शून्य हो तो उस ज्ञान की कीमत ही क्या है ।

`प्रशमरति ग्रंथ में कहा हैं कि **ज्ञानस्य फलं विरतिः'** अर्थात् जीवन में ज्यों ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती जाय, त्यों त्यों पाप-त्याग रुप विरति भाव में वृद्धि होनी चाहिए ।

ज्ञान बढे और जीवन में से पाप का त्याग न हो तो वह ज्ञान वास्तव में भारभूत ही है । अतः ज्ञान के साथ में अपने जीवन में विरति धर्म की भी अभिवृद्धि हो, उसके लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए ।

दान देने के पूर्व उत्साह,
दान देते समय आनंद और
दान देने के बाद अनुमोदना हो तो,
दान का फल अनेक गुणा बढ़ जाता है ।

तहिं पंचिंदिया जीवा, इत्थी जोणी निवासिणो ।
मणुआणं नवलक्खा सव्वे पासइ केवली ।।82।।
इत्थीणं जोणीसु हवंति बेइंदिया य जे जीवा ।
इक्को य दुन्नि तिन्नि वि लक्खपहुत्तं तु उक्कोसं ।।83।।

शब्दार्थ

तहिं–वहाँ,
पंचिंदिया जीवा–पंचेन्द्रिय जीव,
इत्थी जोणी–स्त्री की योनि में,
निवासिणो–रहनेवाले,
मणुआणं–मनुष्य,
नवलक्खा–नौ लाख,
सव्वे–सभी,
पासइ–देखते हैं,
केवली–केवली भगवंत,
इत्थीणं–स्त्री की,
जोणीसु–योनि में,
हवंति–होते हैं,
बेइंदिया–बेइन्द्रिय,
जे जीवा–जो जीव,
इक्को–एक,
दुन्नि–दो गुणा,
तिन्नि वि–तीन भी,
लक्खपहुत्तं–लाख पृथक्त्व,
उक्कोसं–उत्कृष्ट से ।

भावार्थ–स्त्री की योनि में (उत्कृष्ट से) नौ लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उन सब को केवली भगवंत देखते हैं ।

स्त्री की योनि में दो इन्द्रियवाले जीव एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्ट से लक्षपृथक्त्व पैदा होते हैं ।

विवेचन–साधु के पाँच महाव्रतों में सबसे अधिक महिमा चौथे महाव्रत ब्रह्मचर्य की बतलाई है । अन्य चार महाव्रतों में अपवाद भी बताया गया है, परंतु ब्रह्मचर्य में किसी प्रकार का अपवाद नहीं है । चौथे महाव्रत के भंग में साधुता का भंग कहा गया है । अन्य महाव्रतों का पालन करना सरल है किंतु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन सबसे अधिक कठिन कहा है ।

आत्मा के छह अंतरंग शत्रुओं में सबसे अधिक प्रबल शत्रु काम ही कहा गया है । जिसने काम को जीत लिया वह विश्वविजेता बन जाता है और जो काम का गुलाम है, वह विश्व का गुलाम बनता है ।

रावण तीन खंड का अधिपति था परंतु काम का गुलाम था । सीता के रूप के पागलपन के कारण उसे बेमौत मरना पड़ा था ।

पुरिसेण सहगयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं ।
वेणुआदिट्ठं तेणं, तत्ताइ सिलागनाएण ।।84।।

शब्दार्थ

पुरिसेण–पुरुष के,	**उद्दवणं**–उपद्रव,
सहगयाए–साथ में (मैथुन सेवन में),	**वेणुअ**–वेणु,
तेसिं–उन,	**तत्ताइ**–तप्त,
जीवाण–जीवों का,	**सिलाग**–शलाका,
होइ–होता है,	**नाएण**–दृष्टांत से ।

सामान्य अर्थ : रुई से भरी हुई नली में तपी हुई लोहे की सली डालने से सारी रुई जलकर खाक हो जाती है, उसी प्रकार पुरुष के साथ संबंध करने से (योनि में रहे) उन सब जीवों का नाश होता है ।

विवेचन–ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ तप कहा है । अन्य सभी तप सुगम हैं परंतु निर्मल ब्रह्मचर्य की साधना अत्यंत ही कठिन है । बड़े-बड़े त्यागी और कठोर तपस्वी भी काम के आगे घुटने टेक देते हैं ।

बाल्यावस्था में आहार संज्ञा का जोर ज्यादा होता है । बालक को कुछ भी दो वह उसे मुँह में डालने की कोशिश करता है ।

युवावस्था में मैथुन संज्ञा का जोर ज्यादा होता है । जिसने अपनी युवावस्था बेदाग पार की है उस व्यक्ति ने क्या नहीं पाया है ? ब्रह्मचर्य को तो संयम जीवन का प्राण कहा गया है ।

प्राण रहित मृत देह की कीमत ही क्या है ! संयम जीवन का प्राण ही ब्रह्मचर्य है ।

ब्रह्मचर्य के पालन में एक ओर आत्मस्वरूप की साधना है तो दूसरी ओर जीवों की विराधना के पाप से भी विराम है ।

रुई से भरी हुई नली में आग से तपी हुई लोहे की शलाका डालने से वह रुई तुरंत ही जलकर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार स्त्री के साथ संबंध करने से स्त्रीयोनि में रहे असंख्य संमूर्च्छिम जीव व गर्भज मनुष्य की हिंसा का पाप लगता है ।

स्त्री योनि में असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्य भी पैदा होते हैं, उन सबकी हिंसा का पाप मैथुन सेवन में लगता है । अतः आत्महित के इच्छुक मुमुक्षु आत्मा को मैथुन सेवन का सर्वथा त्याग ही करना चाहिए ।

इत्थीण जोणिमज्झे, गब्भगयाइं हवंति जे जीवा ।
उप्पज्जंति चयंति, य समुच्छिमा असंखया भणिया ।।85।।

शब्दार्थ

इत्थीण–स्त्री की,	**उप्पज्जंति**–उत्पन्न होते हैं,
जोणिमज्झे–योनि में,	**चयंति य**–मरते हैं,
गब्भगयाइं–गर्भाशय में,	**समुच्छिमा**–संमूर्च्छिम,
हवंति–होते हैं,	**असंखया**–असंख्य,
जे जीवा–जो जीव,	**भणिया**–कहे गए हैं ।

सामान्य अर्थ : स्त्री की योनि में गर्भाशय में जो संमूर्च्छिम जीव पैदा होते हैं और मरते हैं वे असंख्य कहे गये है ।

विवेचन–रत्नत्रयी की निर्मल आराधना-साधना के फलस्वरूप घाती कर्मों का संपूर्ण क्षयकर जिन्होंने अनंतज्ञान स्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया है ऐसे केवली भगवंतों के लिए इस जगत् में कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं है ।

केवलज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों को जिन्होंने हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखा है, ऐसे तारक परमात्मा ने जगत् के जीवों के हित के लिए ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का निरूपण किया है । ऐसे पदार्थों को राग से रंगीन और मोह में अंधी बनी आत्मा तो कैसे जान सकती है ?

जिस भोगक्रिया के पीछे दुनिया पागल है, जिन भोगों में परम सुख की कल्पना करती है उन्हीं भोगों के पीछे रही असंख्य जीवों की विराधना की बात सर्वज्ञ परमात्मा के सिवाय अन्य कौन बता सकता है !

स्त्री की योनि में असंख्य संमूर्च्छिम जीव पैदा होते रहते हैं, उन जीवों की हिंसा के पाप से बचने के लिए ही तारक परमात्मा ने ब्रह्मचर्य की निर्मल साधना के लिए प्रेरणा दी है । इस प्रेरणा को प्राप्त कर निकट मोक्षगामी अनेक आत्माएँ उन पापों का सर्वदा त्याग करती हैं ।

चलते-फिरते जीव-जंतुओं को तो हर कोई जान सकता है, देख सकता है । परंतु स्त्री की योनि में पैदा होने वाले ये सूक्ष्म जीव तो आँखों से अगोचर ही होते हैं ।

मेहुण सन्नारूढो नवलक्ख हणेइ सुहुम जीवाणं ।
तित्थयरेण भणियं, सद्दहियव्वं पयत्तेण ।।86।।

शब्दार्थ

मेहुण–मैथुन,
सन्नारूढो–संज्ञा में आरूढ़,
नवलक्ख–नौलाख,
हणेइ–नष्ट करता है,
सुहुम जीवाणं–सूक्ष्म जीवों को,
तित्थयरेण–तीर्थंकर द्वारा,
भणियं–कहा गया है,
सद्दहियव्वं–श्रद्धा करनी चाहिए,
पयत्तेण–प्रयत्न द्वारा ।

भावार्थ : मैथुन संज्ञा में आरूढ़ बनी हुई आत्मा नौलाख सूक्ष्म जीवों का नाश करती है, यह बात तीर्थंकर परमात्मा ने कही है । अतः प्रयत्न पूर्वक इस पर श्रद्धा करनी चाहिए ।

विवेचन–मैथुन के सेवन में भयंकर पाप रहा हुआ है । एक बार मैथुन सेवन करने पर उत्कृष्ट से नौ लाख जीवों की हिंसा का पाप लगता है ।

मैथुन सेवन में द्रव्य हिंसा भी है और भाव हिंसा भी है । नौ लाख जीवों की हिंसा द्वारा द्रव्य हिंसा का पाप लगता है तो मैथुन का सेवन राग भाव से होने से अपनी आत्मा की भी हिंसा है ।

स्त्री की योनि में सूक्ष्म जीव पैदा होते रहते हैं-यह बात तीर्थंकर परमात्मा ने अपने केवलज्ञान के बल से प्रत्यक्ष देखकर कही है, अतः उनके वचनों पर हमें पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए अर्थात् श्रद्धा पूर्वक प्रभु के वचनों को स्वीकार कर उनकी आज्ञा को जीवन में आत्मसात् करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य के पालन में जीव हिंसा का भी त्याग रहा हुआ है । मैथुन का सेवन राग-भाव का पोषक होने से उसमें अपनी आत्मा की भाव हिंसा तो है ही । मैथुन सेवन में द्रव्य हिंसा भी होने से आत्म हितेच्छु को अवश्य ही मैथुन सेवन का त्याग करना चाहिए ।

असंखया थीनर मेहुणाओ, मुच्छंति पंचिंदिय माणुसाओ ।
नीसेस अंगाण विभत्तिचंगे, भणइ जिणो पन्नवणाउवंगे ।।87।।

शब्दार्थ

असंखया–असंख्य,	**अंगाण**–अंग के,
थीनर–स्त्री पुरुष	**विभत्ति**–विचित्रता,
मेहुणाओ–मैथुन सेवन से,	**चंगे**–सुंदर,
मुच्छंति–उत्पन्न होते हैं,	**भणइ**–कहते हैं,
पंचिंदिय–पंचेन्द्रिय,	**जिणो**–जिनेश्वर,
माणुसाओ–मनुष्य,	**पन्नवणा**–प्रज्ञापना,
नीसेस–संपूर्ण,	**उवंगे**–उपांग में ।

भावार्थ : स्त्री पुरुष के मैथुन से असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं । यह बात जिनेश्वर भगवंत ने समस्त अंगों के अर्थ का जिसमें सुंदर वर्णन है, ऐसे प्रज्ञापना नाम के उपांग में कही है ।

विवेचन–तारक तीर्थंकर परमात्मा के श्रीमुख से त्रिपदी का श्रवणकर बीज बुद्धि के निधान गणधर भगवंत द्वादशांगी की रचना करते हैं । आचारांग आदि बारह अंगों के बारह उपांगों की रचना हुई है, उसमें चौथे समवायांग सूत्र के प्रज्ञापना उपांग में जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है कि स्त्री पुरुष के मैथुन सेवन से असंख्य संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्य पैदा होते है । वे सभी अन्तर्मुहूर्त के आयुष्यवाले होते हैं । स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी करने के पहले ही मर जाते हैं । वे संमूर्च्छिम मनुष्य आँखों से दिखाई नहीं देते हैं । वे खूब सूक्ष्म होते हैं अंगुल की असंख्याता भाग जितनी अवगाहना में वे रहते हैं ।

प्रज्ञापना सूत्र में कहा है–

गौतम स्वामी भगवंत भगवान महावीर परमात्मा को प्रश्न करते हुए कहते हैं कि हे भगवंत ! संमूर्च्छिम मनुष्य कहाँ पैदा होते हैं ? प्रभु ने कहा- हे गौतम ! ढाई द्वीप के भीतर 45 लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र में 15 कर्म–भूमि, 30 अकर्मभूमि और 56 अन्तर्द्वीप में गर्भज मनुष्य के मल, मूत्र, कफ, श्लेष्म, वमन, पित्त, शुक्र, खून के पुद्गल, मृत कलेवर, स्त्री-पुरुष के संभोग, गाँव-नगर के अन्य अशुचि स्थानों में वे संमूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं ।

मन रहित होते हैं, मिथ्यादृष्टि व अज्ञानी होते हैं और अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण करने के पहले ही अन्तर्मुहूर्त में मर जाते हैं ।

मैथुन सेवन में भयंकर हिंसा रही हुई है अतः इसका त्याग करना चाहिए ।

मैथुनसेवन से हिंसा आदि पाँचों पापों को पुष्टि मिलती है ।

मैथुन सेवन में हिंसा तो है ही ।

कामी व्यक्ति के वचन पर कोई विश्वास नहीं रखता है अतः झूठ की संभावना रहती है ।

मैथुन के सेवन में जिनेश्वर की आज्ञा का निषेध होने से अदत्तादान का भी दोष लगता है ।

स्त्री का संग्रह भी परिग्रह ही है, क्योंकि एक स्त्री के संग्रह से अनेक वस्तुओं की-घर, वस्त्र, आभूषण आदि की अपेक्षा रहती है अतः मैथुन के सेवन में परोक्ष रूप से परिग्रह का भी पाप रहा हुआ है ।

इस प्रकार मैथुन सेवन में पाँचों पापों की पुष्टि होने से यह एक पाप पाँचों पापों का कारण बनता है ।

एक मैथुन के त्याग के संकल्प से आधे संसार का त्याग हो जाता है । इसी कारण ब्रह्मचर्य व्रत को जगत् में दीपक की उपमा दी है । इस व्रत के पालन से मनुष्य का आत्म बल भी बढता है ।

सुकृत को जितना छिपाओगे, वह
शक्तिशाली बनेगा और दुष्कृत को
जितना प्रकट करोगे,
वह उतना ही कमजोर बनेगा ।

मज्जे महुंमि मंसंमि, नवणीयंमि चउत्थए ।
उप्पज्जंति असंखा, तव्वण्णा तत्थ जंतुणो ।।88।।

शब्दार्थ

मज्जे–मद्य में,	**उप्पज्जंति**–उत्पन्न होते हैं,
महुंमि–मधु में,	**असंखा**–असंख्य,
मंसंमि–मांस में,	**तव्वण्णा**–उसी वर्णवाले,
नवणीयंमि–मक्खन में,	**तत्थ**–वहाँ,
चउत्थए–चौथे,	**जंतुणो**–जंतु ।

भावार्थ : मद्य, शहद, मांस और चौथे मक्खन में उसी वर्ण के असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं ।

विवेचन–जैन दर्शन में श्रावक के 7 वें भोगोपभोग विरमण व्रत में 22 प्रकार के अभक्ष्य बतलाए हैं । इनमें चार महाविगइयों का भी समावेश हो जाता है । मद्य, मधु, मांस और मक्खन इन चार को महाविगई कहा है । इन महाविगइयों का सेवन करने से मन में भयंकर कामविकार पैदा होते हैं ।

इन चारों महाविगइयों में अन्तर्मुहूर्त में असंख्य जीव पैदा होते हैं और मरते हैं । हाँ ! मांस में तो तद्वर्णीय निगोद के अनंत जीव पैदा होते रहते हैं अतः प्रत्येक आराधक आत्मा को इन महाविगइयों का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

मांस की प्राप्ति हेतु बड़े शरीरवाले पंचेन्द्रिय प्राणी का वध करना पड़ता है ।

अपने दुःख की अभिव्यक्ति पंचेन्द्रिय प्राणी ही कर पाता है ।

मांस की प्राप्ति हेतु पशु-पंखी, जलचर प्राणी के साथ अत्यंत निर्दयता का व्यवहार किया जाता है ।

मांस की प्राप्ति हेतु पशु-पंखी का हथियार आदि से जब छेदन-भेदन किया जाता है तब उन प्राणियों को अत्यंत ही भयंकर पीड़ा का अनुभव होता है ।

शराब के उत्पादन में भी भयंकर हिंसा रही हुई है ।

अंगूर व अनाज आदि को सड़ाकर शराब बनाई जाती है, उसमें अनेक त्रस जीवों का वध होता है ।

आमासु य पक्कासु य, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
सययं चिय उववाओ, भणिओ य निगोय जीवाणं ।।89।।

शब्दार्थ

आमासु–कच्चे,	**चिय**–अवश्य,
पक्कासु–पके हुए,	**उववाओ**–उपपात,
विपच्चमाणासु–पकाते हुए,	**भणिओ**–कहा है,
मंसपेसीसु–मांसपेशियों में	**य**–तथा,
सययं–हमेशा, सतत,	**निगोय जीवाणं**–निगोद जीवों का

भावार्थ : कच्चे या पके हुए या पकाए जाते हुए मांस-पेशियों में निगोद के जीवों की सतत उत्पत्ति कही गई है ।

विवेचन–मांस में उसी वर्ण के निगोद के जीव सतत उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं ।

एक श्वासोच्छ्वास मात्र काल में निगोद के जीवों का 17 बार जन्म, 17 बार मरण और 18 वीं बार पुनः जन्म हो जाता है अर्थात् 17½ भव हो जाते हैं ।

एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी में निगोद के जीवों के 65536 भव हो जाते हैं ।

मांस किसी भी अवस्था में क्यों न हो, चाहे वह कच्चा हो अर्थात् शरीर से मांस अलग होने के साथ ही उसमें निगोद के जीवों की उत्पत्ति चालू हो जाती है ।

चूल्हे पर मांस पकाया जा रहा हो तो भी उसमें निगोद के जीवों की उत्पत्ति चालू रहती है । मांस पका दिया गया हो अर्थात् चूल्हे पर से नीचे उतार दिया गया हो तो भी उसमें निगोद के जीवों की उत्पत्ति व नाश चालू रहता है ।

अन्य सचित्त फल-शाक आदि तो शस्त्र के घात अथवा अग्नि के संपर्क से अचित्त भी हो जाते हैं, परंतु मांस ऐसी वस्तु है कि अग्नि के संपर्क में रहने पर भी उसमें निगोद के जीवों की उत्पत्ति चालू रहती है ।

आजम्मं जं पावं, बंधइ मिच्छत्तसंजुओ कोइ ।
वयभंगं काउमणो, बंधइ तं चेव अट्ठगुणं ।।90।।
सय सहस्साण नारीणं, पिट्ठं फाडेइ निग्घिणो ।
सत्तट्ठ मासिए गब्भे, तप्फडंते निकत्तइ ।।91।।
तं तस्स जत्तियं पावं, तं नवगुणिय मेलियं हुज्जा ।
एगित्थिय भोगेणं, साहू बंधिज्ज मेहुणओ ।।92।।

शब्दार्थ

आजम्मं–आजन्म,
जं–जो,
पावं–पाप,
बंधइ–बाँधता है,
मिच्छत्तसंजुओ–मिथ्यात्व युक्त,
कोइ–कोई,
वयभंगं–व्रत भंग,
काउमणो–करने की इच्छावाला,
बंधइ–बाँधता है,
तं–उससे,
अट्ठगुणं–आठ गुणा ।
सय सहस्साण–एक लाख,
नारीणं–स्त्रियों के,
पिट्ठं–पेट,
फाडेइ–फाड़ता है,
निग्घिणो–निर्दय,
सत्तट्ठ मासिए–सात आठ मास का,
गब्भे–गर्भ,
निकत्तइ–काटता है ।
तं तस्स–उसको,
जत्तियं पावं–जितना पाप,
तं नवगुणिय–नौ गुणा,
मेलियं–मिलने से,
हुज्जा–होता है,
एगित्थिय–एक स्त्री के,
भोगेणं–भोग से,
साहू–साधु,
बंधिज्ज–बाँधता है,
मेहुणओ–मैथुन से ।

भावार्थ : मिथ्यात्व से युक्त व्यक्ति जीवन पर्यन्त जो पाप करता है उससे भी आठ गुणा पाप व्रतभंग की इच्छा करने वाला बाँधता है ।

कोई निर्दयी व्यक्ति एक लाख स्त्री के पेट को फाड़ता है और उसमें 7-8 मास के गर्भ को काटता है उसे जितने पापकर्म का बंध होता है उससे नौ गुणा करके उसमें मिलाने पर अर्थात् दश गुणा पाप साधु एक स्त्री के साथ मैथुन सेवन से बाँधता है ।

विवेचन–साधु जीवन में सबसे अधिक महत्त्व चौथे ब्रह्मचर्य व्रत का है। यह व्रत तो साधुजीवन का प्राण कहलाता है ।

जिस प्रकार प्राणरहित देह की कोई कीमत नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रहित साधु की भी कोई कीमत नहीं है ।

पाँच महाव्रतों के स्वीकार के बाद जो साधु ब्रह्मचर्य व्रत के भंग की मात्र इच्छा ही करता है अर्थात् सिर्फ मन से ही इस व्रत का भंग करता है उसे भी भयंकर कोटि के पापकर्म का बंध होता है ।

उपमा द्वारा समझाते हैं कि कोई मिथ्यात्वी व्यक्ति अपने संपूर्ण जीवन में जितने पाप करता है उससे भी आठ गुणा पाप मैथुन सेवन करने की इच्छा करने वाले साधु को लगता है अर्थात् देवों को भी दुर्लभ ऐसे महान् चारित्र धर्म को स्वीकार करने के बाद भी कोई मूर्ख साधु महा कीमती चारित्र धर्म में दाग लगाने वाले मैथुन सेवन के पाप की इच्छा करे तो उसे कितने भयंकर पापकर्म का बंध होता है ।

और कोई संयमी साधु किसी स्त्री के रूप आदि में मोहित होकर उसके साथ मैथुन सेवन करे तो उसे तो कितने भयंकर पाप कर्म का बंध होता है, जिसे सुन कर तो एक बार हृदय भी काँप उठता है ।

7-8 मास के गर्भवाली एक लाख स्त्रियों के पेट को निर्दयता से चीर कर उन स्त्रियों के बच्चों की क्रूर हत्या करने से जितने पाप का बंध होता है उससे नौ गुणा पाप तथा एक मिथ्यादृष्टि आत्मा जिंदगी में जितने पाप करती है, वे पाप भी उसमें जोड़ने पर जितने पाप होते हैं, उतने पापों का बंध एक स्त्री के साथ शारीरिक संबंध करने से होता है । इससे भी उस पाप की भयंकरता का ख्याल आ जाता है ।

धन की तीन गतियाँ है, दान, भोग और नाश ।
जो न दान देता है और न भोग करता है,
उसके धन का अवश्य नाश होता है ।

अखंडिय चारित्तो, वयधारी जो व होइ गीयत्थो ।
तस्स सगासे दंसण, वयगहणं सोहिकरणं च ।।93।।

शब्दार्थ

अखंडिय–अखंडित,	**तस्स सगासे**–उनके पास,
चारित्तो–चारित्र वाले,	**दंसण वय**–दर्शन व्रत,
वयधारी–व्रतधारी,	**गहणं**–ग्रहण,
जो होइ–जो होते हैं,	**सोहिकरणं**–शुद्धीकरण ।
गीयत्थो–गीतार्थ,	

भावार्थ–जो अखंडित चारित्रवाले, व्रतधारी और गीतार्थ हैं ऐसे सद्गुणी के पास सम्यग्दर्शन मूलक व्रतों का ग्रहण और अपने व्रतों में लगे अतिचारों की शुद्धि करनी चाहिए ।

विवेचन–आत्मकल्याण के साधनभूत जो सम्यक्त्वमूलक देशविरति व सर्वविरति स्वरूप व्रत बतलाए हैं अथवा उन व्रतों में लगे अतिचार-दोषों के निवारण हेतु जो प्रायश्चित्त विधि बतलाई है वह सब कार्य अखंडित चारित्रधर और गीतार्थ सद्गुरु के पास करना चाहिए ।

जो स्वयं चारित्रहीन हो, वह दूसरों को चारित्र कैसे प्रदान कर सकेगा ? अथवा जिसका चारित्र दूषित है, वह दूसरों के चारित्र में लगे अतिचारों की शुद्धि कैसे कर पाएगा ?

चारित्र में लगे दोषों की शुद्धि के लिए गीतार्थ गुरु की अपेक्षा रहती है । गीतार्थ अर्थात् जिनवाणी के रहस्य को अच्छी तरह से जानने-समझने वाला ।

परमात्मा की वाणी या उपदेश नय-सापेक्ष होता है, अतः जो व्यवहारनय-निश्चय नय, उत्सर्ग मार्ग-अपवाद मार्ग आदि के रहस्य को अच्छी तरह से जानता, समझता है, ऐसे गीतार्थ गुरु के पास ही अपने पापों की शुद्धि करनी चाहिए ।

जिस प्रकार कुशल वैद्य ही रोग के रहस्य को अच्छी तरह से जानकर उसकी योग्य चिकित्सा कर सकता है ।

उसी प्रकार गीतार्थ गुरु ही आत्मा की शुद्धि कर सकते है ।

अद्दामलय पमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा ।
ते पारेवयमित्ता, जंबुदीवे न मायंति ।।94।।
एगंमि उदग बिंदुमि, जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता ।
ते जइ सरिसवमित्ता, जंबुदीवे न मायंति ।।95।।
वरंट तंदुलिमित्ता तेउकाए, हवंति जे जीवा ।
ते जइ खसखस मित्ता, जंबुदीवे न मायंति ।।96।।
जे लिंबपत्त मित्ता, वाउकाए हवंति जे जीवा ।
ते मत्थयलिक्ख मित्ता, जंबुदीवे न मायंति ।।97।।

शब्दार्थ

अद्दा–आर्द्र,
आमलयपमाणे–आँवले प्रमाण,
पुढवीकाए–पृथ्वीकाय में,
हवंति–होते हैं,
जे जीवा–जितने जीव,
ते–वे,
पारेवयमित्ता–कबूतर प्रमाण,
जंबुदीवे–जंबूद्वीप मे,
न मायंति–समाते नहीं हैं,
एगंमि–एक,
उदग बिंदुमि–जलबिंदु में,
पन्नत्ता–कहे गए हैं,
जिणवरेहिं–जिनेश्वर द्वारा,
ते जइ–वे यदि,
सरिसवमित्ता–सरसों प्रमाण,
तंदुलिमित्ता–तंदुल मात्र,
तेउकाए–तेजस्काय में,
खसखसमित्ता–खसखस प्रमाण,
लिंबपत्त–नीम के पत्ते,
वाउकाए–वायुकाय में,
मत्थय–मस्तक,
लिक्खमित्ता–लीख प्रमाण ।

भावार्थ–आर्द्र आँवले प्रमाण पृथ्वीकाय में जितने जीव होते हैं वे सभी जीव यदि कबूतर प्रमाण अपना शरीर बना दे तो वे संपूर्ण जंबूद्वीप में भी समा नहीं सकते हैं ।

जल के एक बिंदु में जिनेश्वर भगवंतों ने जितने जीव देखे हैं, वे सभी जीव सरसों के दाने प्रमाण अपना शरीर बना लें तो संपूर्ण जंबूद्वीप में भी नहीं समा सकते हैं ।

चावल के दाने प्रमाण अग्नि में जितने जीव होते हैं वे जीव अपना शरीर खसखस के दाने जितना बना लें तो संपूर्ण जंबूद्वीप में भी नहीं समा सकते हैं ।

एक नीम का पत्ता जितनी जगह घेरता है, उतने क्षेत्र में रहे वायुकाय के जीव मस्तक की लीख प्रमाण हो जाय तो उससे सारा जंबूद्वीप भर जाएगा ।

अनंतज्ञानी तारक तीर्थंकर परमात्मा अपने केवलज्ञान के द्वारा जगत् के यथार्थ स्वरुप को हाथ में रहे आँवले की भांति स्पष्ट जानते व देखते है ।

पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों की जो सूक्ष्मता हैं, उसे स्थूल बुद्धि से जानना-समझना बहुत ही कठिन है ।

आँवले प्रमाण पृथ्वीकाय में पृथ्वीकाय के जीवों की इतनी बडी संख्या है कि वे एक एक जीव कबुतर बन जाय तो पूरा जंबूद्वीप भर जाएगा ।

पृथ्वीकाय के जीव 100-200, 1000-2000 इकट्ठे हो जाय तो भी उन्हें हम चर्म चक्षु से देख नहीं सकते है ।

पृथ्वीकाय की भांति अप्काय, तेउकाय और वायुकाय के जीव भी इतने सूक्ष्म है कि वे भी 100-200 इकट्ठे हो जाय तो हम चर्म चक्षु से देख नहीं सकते है ।

उन जीवों की सूक्ष्मता को जानकर उन जीवों की विराधना से बचने का प्रयत्न करना चाहिये । तभी हमारा ज्ञान सफल व सार्थक बन सकता है ।

ईंधन से आग को तृप्ति नहीं होती,
सलिल से सागर को तृप्ति नहीं होती,
भले कोई करोड़पति बन जाय,
दौलत से मन को तृप्ति नहीं होती ।

असुइठाणे पडिया, चंपक माला न कीरइ सीसे ।
पासत्थाइ ठाणेसु, वट्टमाणो तहा अपुज्जो ।।98।।

शब्दार्थ

असुइठाणे–अशुचिस्थान में,
पडिया–गिरी हुई,
चंपक माला–चंपक पुष्पों की माला,
न–नहीं,
कीरइ–की जाती है,
सीसे–मस्तक पर,
पासत्थाइ–पार्श्वनाथ आदि,
ठाणेसु–स्थानों में,
वट्टमाणो–वर्तमान,
तहा–उसी प्रकार,
अपुज्जो–अपूज्य ।

भावार्थ–अशुचि के स्थान में रही हुई चंपकमाला मस्तक पर धारण नहीं की जाती है उसी प्रकार पार्श्वस्थ आदि के स्थानों में रहा हुआ साधु भी अपूज्य बनता है ।

विवेचन–चंपक के सुगंधित फूलों से बनी हुई माला को मस्तक पर धारण किया जाता है परंतु यदि वह माला अशुचि या मल-मूत्र के स्थान में गिर जाती है तो पिर कोई भी समझदार व्यक्ति उसे अपने गले या मस्तक पर धारण नहीं करेगा, क्योंकि वह गंदी हो गई है ।

उसी प्रकार चारित्र संयत साधु सभी के लिए पूज्य है, आदर पात्र है, परंतु यदि वह पार्श्वस्थादि आचार में शिथिल साधुओं के बीच रहेगा तो वह भी पासत्था आदि की तरह अपूज्य हो जाएगा ।

शराब की दुकान पर बैठकर दूध नहीं पिया जाता है । अथवा शराब की बोतल में दूध भी पीनेवाला बदनाम ही होता है । अपने जीवन को पवित्र बनाए रखने के लिए चारित्र में शिथिल व्यक्तियों के संग से भी दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए ।

तामसी पदार्थ-हिंसक आहार-मांसाहार,
अनंतकाय आदि खाने से मानसिक
पतन होता है, जिससे क्रोध पैदा होता है ।

छट्ठट्ठम दसम दुवालसेहिं मासद्धमास खमणेहिं ।
इत्तो उ अणेग गुण, सोही जिमियस्स नाणिस्स ।।99।।

शब्दार्थ

छट्ठट्ठम–दो उपवास, तीन उपवास,	**इत्तो उ**–इससे भी,
दसम–चार उपवास,	**अणेग गुणा**–अनेक गुणा,
दुवालसेहिं–पांच उपवास,	**सोही**–शुद्धि,
मासद्ध–अर्ध मास,	**जिमियस्स**–खाने पर भी,
मास खमणेहिं–मास क्षमण से,	**नाणिस्स**–ज्ञानी को ।

भावार्थ–दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास, पांच उपवास, पंद्रह उपवास तथा मासक्षमण आदि से भी जो शुद्धि नहीं हैं वह शुद्धि भोजन करते हुए भी ज्ञानी को ही जाती है ।

विवेचन–जैन शासन में बाह्य तप से भी अभ्यंतर तप की खूब कीमत आंकी है । अज्ञानी व्यक्ति चाहे जितना तप करे तो भी उतनी निर्जरा नहीं कर पाता है, जितनी निर्जरा ज्ञानी कर देता है ।

ज्ञान के अभाव में किए गए तप की विशेष कीमत नहीं है । अज्ञानी के तप को अकाम निर्जरा कहा है । अतः जीवन में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग्य प्रयत्न अवश्य करना चाहिए ।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जरुरी है । सम्यग्दर्शन के अभाव में नौ पूर्वी का ज्ञान भी अज्ञान ही कहलाता हैं, जबकि सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में अष्ट प्रवचन माता जितना ही ज्ञान क्यों न हो, तो भी वह ज्ञान कहलाता है ।

भूतकाल में अपनी आत्मा ने नरक-तिर्यंच के भवों में अज्ञानता के साथ खूब खूब कष्ट सहन किया है, परंतु वह सब अज्ञानता पूर्वक सहन किया होने के कारण अकाम निर्जरा का ही कारण बना हैं, जबकि सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई अल्प भी आराधना-साधना का महाफल बताया गया है । अतः सम्यग्ज्ञान पूर्वक आराधना साधना के लिए योग्य प्रयत्न करना चाहिए ।

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआइं वास कोडीहिं ।
तन्नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमित्तेण ।।100।।

शब्दार्थ

जं–जो,	**तत्**–उसे,
अन्नाणी–अज्ञानी,	**नाणी**–ज्ञानी,
कम्मं–कर्म को,	**तिहिं**–तीन,
खवेइ–क्षय करता है,	**गुत्तो**–गुप्ति वाला,
बहुआइं–बहुत से,	**खवेइ**–क्षय करता है,
वास कोडीहिं–करोड़ों वर्षों से,	**उस्सासमित्तेण**–श्वासोच्छ्वास से ।

भावार्थ–जिस कर्म को अज्ञानी बहुत से करोडों वर्षों द्वारा क्षय करता है उन कर्मों को तीन गुप्ति से गुप्त ज्ञानी श्वासोच्छ्वास मात्र से क्षय कर देता है ।

विवेचन–जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट क्रिया से कर्म का क्षय होता है परंतु वह क्रिया ज्ञानपूर्वक अर्थात् विवेकपूर्वक होनी चाहिए । जो क्रिया ज्ञानपूर्वक नहीं है वह क्रिया कर्मक्षय का नहीं बल्कि कर्मबंध का ही कारण बनती है ।

जहाँ अज्ञानता है, वहाँ मोह है । जहाँ मोह है, वहाँ राग-द्वेष है । राग-द्वेष पूर्वक की गई क्रिया से नवीन कर्म का ही बंध होता है ।

इसलिए कहा गया है कि तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी की सभी क्रियाएँ विवेकपूर्वक होने के कारण वह अपने प्रत्येक श्वासोच्छ्वास द्वारा जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उन कर्मों को अज्ञानी करोडों वर्षों की तपश्चर्या आदि द्वारा भी क्षय नहीं कर सकता है ।

शास्त्र में कहा है–

तामली तापस छट्ठ के पारणे छट्ठ करता था और पारणे में भी 21 बार जल से धोया हुआ चावल लेता था फिर भी अपनी मिथ्यात्व दशा के कारण सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की एक नवकारसी से भी तुलना नहीं कर सका है अर्थात् समकिती आत्मा एक नवकारसी द्वारा जिन कर्मों का क्षय कर पाती है उतने कर्मों का क्षय वह 60000 वर्ष के तप द्वारा भी नहीं कर पाया है ।

ज्ञानी की प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्वक होती है ।

अज्ञानी करोड़ों वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करता है, तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी उतने कर्म श्वास मात्र में खपा देता है ।

अज्ञानता यही सबसे बड़ा अपराध है । अज्ञानता के कारण ही मुख्यतया आत्मा संसार में भटकती है ।

अज्ञानी व्यक्ति की धर्मक्रियाएँ विवेकशून्य होती हैं । विवेकशून्यता के कारण धर्म की क्रियाएँ करते हुए भी उन धर्म-क्रियाओं से जो लाभ होना चाहिए, वह लाभ नहीं हो पाता है ।

ज्ञानी व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक अनुष्ठान विवेकयुक्त होता है, उस विवेक के कारण ज्ञानी की प्रत्येक क्रिया अनंत कर्म-निर्जरा का कारण बनती है ।

अज्ञानी की धर्म क्रियाएँ भी पाप-बंध का कारण बनती हैं, जब कि ज्ञानी की बाह्य दृष्टि से पाप क्रिया भी कर्म निर्जरा का कारण बन जाती है ।

ज्ञानी के लिए आस्रव के द्वार भी कर्म-निर्जरा के द्वार बन जाते हैं और अज्ञानी के लिए कर्मनिर्जरा के साधन भी कर्मबंध के कारण बन जाते हैं ।

ठीक ही कहा है–

'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा ।'

ज्ञानी की सम्यग् क्रिया सकाम निर्जरा का कारण बनती है, जब कि अज्ञानी की क्रिया अकाम निर्जरा का कारण बनती है ।

ज्ञानी के मासक्षमण में सकाम निर्जरा है ।

अज्ञानी के मासक्षमण में भी अकाम निर्जरा है ।

क्रिया यदि पाँव के स्थान पर हैं तो आँख ज्ञान के स्थान पर है । जीवन में क्रिया हो, परंतु सम्यग्ज्ञान न हो तो वे क्रियाएँ आत्म-हितकर्तार नहीं बन पाती हैं । इसीलिए ज्ञानी की अल्प आराधना-साधना भी महाफलदायी बनती है, जब कि अज्ञानी की करोड़ों भवों की साधना भी अल्प निर्जरा का कारण बनती है । अतः ज्ञानी बनें, विवेकी बनें ।

जिण पवयण वड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
वड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।।101।।
जिण पवयण वड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ।।102।।

शब्दार्थ

जिण पवयण–जैन प्रवचन,	**तित्थयरत्तं**–तीर्थंकरपने को,
वड्ढिकरं–वृद्धिकरने वाला,	**लहइ**–प्राप्त करता है,
पभावगं–प्रभावक,	**जीवो**–जीव,
नाणदंसणगुणाणं–ज्ञान दर्शन गुण का,	**अणंतसंसारिओ**–अनंत संसारी,
वड्ढंतो–वृद्धि करने वाला,	**भक्खंतो**–भक्षण करने वाला ।
जिणदव्वं–देवद्रव्य,	

भावार्थ–देव द्रव्य की वृद्धि करने वाला जैन प्रवचन की वृद्धि करने वाला होता है, ज्ञान-दर्शन गुणों का प्रभावक होता है और यावत् तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है ।

देवद्रव्य का भक्षण करने वाला अनंत संसारी होता है ।

विवेचन–जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा के अनुसार देवद्रव्य की वृद्धि करने वाला उत्कृष्ट पुण्य का बंध करता है यावत् तीर्थंकर नाम कर्म का भी बंध कर सकता है ।

मोक्षमार्ग की आराधना-साधना करने वाली आत्मा के ऊपर तीर्थंकर परमात्मा का महा उपकार है । अतः उनकी पूजा-सेवा-भक्ति करना प्रत्येक आराधक का अनिवार्य कर्त्तव्य है । देवद्रव्य की वृद्धि भी जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति स्वरूप ही है ।

देवद्रव्य हो तो जिनमंदिर की सुंदरता में अभिवृद्धि हो सकती है । मंदिर सुंदर हो तो उसके दर्शन आदि के बहाने साधु-साध्वीजी आदि गुरु भगवंतों का भी खूब आगमन होता है, जिसके फल-स्वरूप उनके उपदेश आदि द्वारा जैन शासन की भी खूब प्रभावना होती है । जीवों के ज्ञान-दर्शन गुण की वृद्धि होती है ।

देवद्रव्य की वृद्धि भी आज्ञानुसार ही करनी चाहिए । जिनाज्ञा से निरपेक्ष होकर की गई देवद्रव्य की वृद्धि भी लाभ के बदले नुकसान का ही कारण बनती है ।

उदा. देवद्रव्य की वृद्धि के लिए देवद्रव्य का धन मच्छीमार, कसाई, वेश्या तथा चमार को ब्याज पर देना (सर्वथा अनुचित है ।)

श्राद्धविधि आदि ग्रंथों में देवद्रव्य का भक्षण या दुरुपयोग करनेवाले संकाश श्रावक, ऋषभदत्त तथा लक्ष्मीवती आदि के अनेक दृष्टांत हमारी सुषुप्त चेतना को जागृत करते है ।

महान पुण्योदय से मानव भव की प्राप्ति होती है, अतः इस जीवन में देवद्रव्य के भक्षण जैसा कोई पाप भूल से भी नहीं होना चाहिए ।

कई लोग अज्ञानता के कारण देवद्रव्य की महत्ता नहीं समझते है और उसका भक्षण या दुरुपयोग कर लेते है परंतु परलोक में उसका अत्यंत ही कटु परिणाम भुगतना पडता है । अतः भवभीरु आत्मा को देवद्रव्य के भक्षण से अवश्य बचना चाहिए । जाने-अनजाने में भी यह भूल न हो जाय, इसके लिए खूब सावधानी रखनी चाहिए ।

अपना मन

मन अपने हाथ में है,
उस पर भी अपना अंकुश नहीं है तो
पुत्र-पत्नी और नौकर अपने अधीन कैसे रह पाएंगे ?
मन पर नियंत्रण की साधना सबसे कठिन है ।
ठीक ही कहा हैं–
`मन के जीते जीत है, मन के हारे हार ।'

भक्खेइ जो उवेक्खेइ जिणदव्वं तु सावओ ।
पन्नाहीणो भवे जीवो, लिप्पइ पावकम्मुणा ।।103।।

शब्दार्थ

भक्खेइ–भक्षण करता है,	**पन्नाहीणो**–प्रज्ञाहीन,
जो–वह,	**भवे**–होता है,
उवेक्खेइ–उपेक्षा करता है,	**जीवो**–जीव,
जिणदव्वं–देवद्रव्य को,	**लिप्पइ**–लिप्त होता है,
सावओ–श्रावक,	**पावकम्मुणा**–पाप कर्म से ।

भावार्थ–जो श्रावक देवद्रव्य का भक्षण करता है या उसकी उपेक्षा करता है, वह प्रज्ञाहीन होता है और पाप कर्म से लिप्त होता है ।

विवेचन–लोकोत्तर ऐसे प्रभुशासन में श्रावक को सद्द्रव्य (धन) के व्यय के लिए जिन-प्रतिमा, जिन मंदिर, जिनागम, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप सात क्षेत्र बतलाए हैं । इस सात क्षेत्रों में भक्ति व बहुमान पूर्वक लक्ष्मी का सद्व्यय करने से सर्वोत्कृष्ट पुण्य का बंध और चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होता है ।

परंतु धन की तीव्र ममता या आसक्ति के कारण जो अपनी लक्ष्मी का सात क्षेत्रों में सद्व्यय नहीं करता है वह तीव्र पाप कर्म का बंध करता है । यद्यपि श्रावक के लिए सातों क्षेत्र उत्तम हैं, परंतु उनमें भी जिन प्रतिमा व जिनमंदिर संबंधी क्षेत्र तो अत्युत्तम हैं । देव द्रव्य का भक्षण व उपेक्षा तो महा अनर्थकारी है । देवद्रव्य का भक्षण या उपेक्षा करने वाला अगले जन्म में प्रज्ञाहीन के रूप में पैदा होता है ।

देवद्रव्य-भक्षण व उपेक्षा से भयंकर पापकर्म का बंध करता है जिसके फलस्वरुप अनेक भवों तक दुर्गति के गर्त में भटकता रहता है ।

जैनशासन में उम्र की प्रधानता नहीं है ।
जो गुणों में अधिक है, वह महान है ।

चेइअदव्वविणासे, रिसिघाए पवयणस्स उड्डाहे ।
संजइ चउत्थ भंगे, मूलग्गी बोहि लाभस्स ।।104।।

शब्दार्थ

चेइअदव्व–देवद्रव्य,	**संजइ**–संयत (साध्वी),
विणासे–विनाश में,	**चउत्थ भंगे**–चौथेव्रत भंग में,
रिसिघाए–ऋषिघात में,	**मूलग्गी**–मूल में अग्नि,
पवयणस्स–प्रवचन के,	**बोहि लाभस्स**–बोधिलाभ के
उड्डाहे–हीलना में	

भावार्थ–देवद्रव्य के नाश में, ऋषि के घात में, शासन की हीलना में और संयत साध्वी के चौथेव्रत के भंग से बोधिलाभ के मूल में आग लगती है ।

विवेचन–वृक्ष की डाल कट जाए तो ज्यादा नुकसान नहीं है, वह डाल वापस उग सकती है । परंतु वृक्ष के मूल को ही काट दिया जाय या उस वृक्ष के मूल में ही आग लग जाय तो वह वृक्ष हरा-भरा नहीं रह सकता है ।

ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि निम्न चार पापों से जीवात्मा की बोधि के मूल में ही आग लग जाती है अर्थात् इन पापों के सेवन से आत्मा को बोधि की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ हो जाती है जिसके परिणाम-स्वरूप दीर्घकाल तक वह चार गतिरूप संसार में भटकती रहती है ।

चैत्य द्रव्य अर्थात् देवद्रव्य का नाश करे, दुरुपयोग करे, देवद्रव्य की उपेक्षा करे, ऋषिघात-त्यागी, तपस्वी, संयमी व आराधक मुनि की हत्या करना, दूसरों से कराना, यह भी भयंकर कोटि का पाप है ।

शासन की हीलना :- जैन शासन की निन्दा ही हीलना है । लोक मानस में जैन धर्म के प्रति दुर्भावना पैदा हो, ऐसी कोई भी प्रवृत्ति करने से भयंकर पाप कर्म का बंध होता है । इस पाप से भी आत्मा दुर्लभबोधि बनती है ।

साध्वी का शील भंग :- पंच महाव्रतधारी किसी भी साध्वी का शील भंग करने से भी भयंकर पाप कर्म का बंध होता है ।

इन चार प्रवृत्तियों से आत्मा दुर्लभबोधि बनती है अर्थात् भविष्य में बोधि की प्राप्ति हो, ऐसे संयोग प्राप्त नहीं होते हैं ।

सुव्वइ दुग्गय नारी, जगगुरुणो सिंदुवार कुसुमेहिं ।
पूआ पणिहाणेहिं, उप्पन्ना तियसलोगंमि ।।105।।

शब्दार्थ

सुव्वइ–सुना जाता है,
दुग्गय नारी–दरिद्र स्त्री,
जगगुरुणो–परमात्मा की,
सिंदुवार कुसुमेहिं–सिंदुवार के फूलों से,
पूआ पणिहाणेहिं–पूजा प्रणिधान से,
उप्पन्ना–उत्पन्न हुई ।
तियसलोगंमि–देवलोक में ।

भावार्थ–शास्त्र में सुना जाता है कि एक दरिद्र नारी सिंदुवार के पुष्पों से जगत् पूज्य की पूजा करने के शुभ ध्यान से मरकर देवलोक में पैदा हुई ।

विवेचन–एक बार पृथ्वीतल को पावन करते हुए भगवान महावीर परमात्मा काकंदी नगरी के बाहर पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की ।

नगरजनों को प्रभु के आगमन का पता लगते ही अनेक लोग पूजा आदि की सामग्री लेकर प्रभु के दर्शन-वंदन के लिए समवसरण की ओर जाने लगे ।

किसी एक बुढ़िया ने लोगों को प्रभु के समवसरण की ओर जाते देखा, यह देख उसके मन में भी प्रभुदर्शन की भावना जगी ।

उसने सोचा, मेरे पास प्रभु पूजा के लिए कोई सामग्री तो नहीं है, तो फिर खाली हाथ प्रभु के पास कैसे जाऊँ ? इस प्रकार विचारकर उसने सोचा, क्यों न जंगल में रहे फूल ले जाकर प्रभु की पूजा करुँ । इस प्रकार विचार कर जंगल में जाकर पुष्पों को तोड़कर भगवान महावीर परमात्मा के दर्शन-वंदन के लिए समवसरण की ओर आगे बढ़ी । बुढ़िया के अन्तर्मन में प्रभुदर्शन का खूब उत्साह-उल्लास था । अचानक ही किसी घोड़े की टक्करं लग जाने से वह भूमि पर गिर पड़ी और उसके साथ ही उसके प्राण पखेरू उड़ गए ।

प्रभुभक्ति के शुभ अध्यवसाय में मन जुड़ा होने से वह बुढ़िया मरकर देवलोक में देव के रूप में पैदा हुई ।

देवलोक में उत्पन्न होने के बाद उस देव ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और तुरंत ही वह देव महावीर प्रभु के दर्शन के लिए उपस्थित हो गया । उसने खूब आदरपूर्वक प्रभु के दर्शन किये ।

इस प्रकार प्रभु के साक्षात् दर्शन-स्तुति-भक्ति व उत्तम द्रव्यों से प्रभु की पूजा भक्ति तो महाफलदायी है ही, परंतु मात्र प्रभुदर्शन की भावना से ही बुढ़िया माजी को देवभव की प्राप्ति हो गई ।

ठीक ही कहा है–

'प्रभु की पूजा-भक्ति करने से उपसर्गों का नाश होता है । विघ्न की लताएँ विच्छिन्न हो जाती हैं और मन प्रसन्नता से भर जाता है ।'

प्रभु के दर्शन से पाप का नाश होता है । प्रभु को वंदन करने से अपने मनोरथ पूर्ण होते हैं और प्रभु की पूजन करने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है । प्रभु तो साक्षात् कल्पवृक्ष के समान हैं ।

समस्याएँ !

गरीबों की समस्या रोटी-कपडा और मकान है ।
उसे तो पैसों के बल पर दूर किया जा सकता है,
परंतु श्रीमंतों की जो समस्या है, वह है वासना,
विलासिता और कषाय !
इन्हें पैसों के बल पर दूर नहीं कर सकते हैं ।
आत्म-साधना के बिना उन
समस्याओं का समाधान नहीं है ।

वरगंधपुप्फ अक्खय-पइव धूव नीर पत्तेहिं ।
नेविज्ज विहाणेण य, जिणपूआ अट्ठहा भणिया ।।106।।

शब्दार्थ

वरगंध–श्रेष्ठगंध,
पुप्फ–पुष्प,
अक्खय–अक्षत,
पइव–दीपक,
फल–फल,
धूव–धूप,
नीर–जल,
पत्तेहिं–पात्र से,
नेविज्ज–नैवेद्य,
विहाणेण–विधान से,
जिणपूआ–जिनपूजा,
अट्ठहा–आठ प्रकार की,
भणिया–कही गई है ।

भावार्थ–सुरंभि-गंध, पुष्प, अक्षत, दीपक, फल, धूप, जल, नैवेद्य के विधान से जिनपूजा आठ प्रकार की कही गई है ।

विवेचन–शासन की स्थापना करने के द्वारा तारक तीर्थंकर परमात्मा का हमारी आत्मा पर असीम उपकार है । ऐसे उपकारी परमात्मा की प्रतिदिन उत्तम द्रव्यों से पूजा अवश्य करनी चाहिए ।

प्रभु की द्रव्य पूजा पाँच, आठ, सत्रह तथा इक्कीस आदि अनेक प्रकार से होती है ।

प्रस्तुत गाथा में जिनपूजा के आठ प्रकार बतलाए हैं ।

1. सुगंधी द्रव्य : चंदन, केशर, बरास, कस्तूरी आदि उत्तम द्रव्यों से जिनपूजा हो सकती है । यह पूजा प्रभु के अंग पर की जाती है ।

2. सुगंधित पुष्प : सुगंधित, अखंड तथा विकसित खिले हुए पुष्पों से प्रभु की पूजा की जाती है । फूल में सुगंध है तो प्रभु की पूजा करने से हमें चारित्र की सुगंध प्राप्त होती है ।

3. अक्षत पूजा : अखंड अक्षत अर्थात् चावल से प्रभु के आगे स्वस्तिक, नंदावर्त आदि की रचना कर अक्षत पूजा की जाती है । इस पूजा के फलस्वरूप अक्षय पद की प्राप्ति होती है ।

4. दीपक पूजा : दीपक यह ज्ञान का प्रतीक है । दीपक बाहर के अंधकार को दूर करता है, प्रभु की दीपक पूजा करने से अपने भीतर रहा अज्ञान रूपी अंधकार दूर होता है ।

5. फल पूजा : उत्तम फलों से प्रभु की उग्र पूजा करने से हमें उत्तम फल अर्थात् मोक्षफल की प्राप्ति होती है ।

6. धूप पूजा : सुगंधित धूप वातावरण में सुगंध फैलाता है । प्रभु की सुगंधित धूप से धूप पूजा करने से अपनी आत्मा में रही मिथ्यात्व की दुर्गन्ध दूर हो जाती है ।

7. नैवेद्यपूजा : आत्मा का मूलभूत स्वभाव अणाहारी है । चार प्रकार के आहार में सबसे अधिक आसक्ति मिठाई पर होती है । प्रभु की अग्रपूजा में उत्तम मिठाई धरने से आहार की आसक्ति टूटती है और आत्मा अणाहारी पद प्राप्त करती है ।

प्रभु की उत्कृष्ट भाव से द्रव्य पूजा करने से चारित्र मोहनीय के अंतराय दूर हो जाते हैं और हमें वीतराग परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट चारित्र धर्म की प्राप्ति होती है ।

स्वाध्याय और ध्यान

पानी और साबुन से वस्त्र का मैल दूर होता है ।
अग्नि और तेजाब से सोने का मैल दूर होता है ।
उसी प्रकार आत्मा के भीतर रहे कर्म मैल को
स्वाध्याय और ध्यान द्वारा दूर किया जा सकता है ।
स्वाध्याय से आत्मस्वरुप का सही बोध होता है और
ध्यान से कर्म का मैल साफ हो जाता है ।

उवसमइ दुरियवग्गं, हरइ दुहं कुणइ सयलसुक्खाइ ।
चिंताइयंपि फलं, साहइ पूआ जिणंदाणं ।।107।।

शब्दार्थ

उवसमइ–उपशांत होता है,
दुरियवग्गं–पाप का समूह,
हरइ–दूर होता है,
दुहं–दु:ख,
कुणइ–करता है,
सयलसुक्खाइ–सभी सुख,
चिंताइयं–चिंता से अतीत,
फलं–फल को,
साहइ–सिद्ध करता है,
पूआ–पूजा,
जिणंदाणं–जिनेश्वर की ।

भावार्थ–जिनेश्वर परमात्मा की पूजा पापसमूह को शांत करती है, दु:ख को दूर करती है, सभी प्रकार के सुख पैदा करती है, नहीं सोचे हुए फलों को भी सिद्ध करती है ।

विवेचन–निष्कामभाव से जिनेश्वर परमात्मा की पूजा-भक्ति से अमाप, अकल्प्य फल की प्राप्ति होती है । प्रभु पूजा के फलस्वरूप पाप का समूह नष्ट हो जाता है अर्थात् पाप कर्म जलकर शांत हो जाते हैं ।

◆ देवपाल एक ग्वाले के रुप में पैदा हुआ था, परंतु सद्भाव पूर्वक तारक अरिहंत परमात्मा की पूजाभक्ति के फल स्वरुप वह राजा बना, इतना ही नहीं आगे चलकर उसने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया । भविष्य में तीर्थंकर बनकर शाश्वत मोक्ष पद प्राप्त करेगा ।

◆ अष्टापदतीर्थ पर परमात्मा की गई भक्ति के फल स्वरुप रावण से तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया था ।

सम्राट् कुमारपाल महाराजा ने अपने गतभव में 5 कोडी के अठारह पुष्पों से जिनेश्वर परमात्मा की पूजा भक्ति की थी-जिसके फलस्वरुप वह अठारह देश का अधिपति बना । निष्काम भाव से की गई पूजा भक्ति के फलस्वरुप प्राप्त राज्य-सत्ता भी उसकी आत्मा के लिए बंधनरुप नहीं बनी, मात्र एक ही भव के बाद गणधर बनकर मोक्ष में चली जाएगी ।

इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति तीर्थंकर परमात्मा ही है, अत: उनकी की गई भक्ति अमाप-अचिंत्य फल का प्रदान करती है ।

अकसिणपवत्तमाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणु करणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ।।108।।

शब्दार्थ

अकसिणपवत्तमाणं–अपूर्ण संयमवाले,	**संसार**–संसार,
विरयाविरयाण–देशविरतिधर,	**पयणु करणे**–पतला करने में,
एस–यह,	**दव्वत्थए**–द्रव्यस्तव में,
जुत्तो–योग्य,	**कूवदिट्ठंतो**–कूप का दृष्टांत ।

भावार्थ–अपूर्ण संयमवाले देशविरतिधर श्रावक को शुभ कर्म के अनुबंध द्वारा संसार को घटानेवाला द्रव्यस्तव कूप के दृष्टांत से अवश्य करने योग्य है ।

विवेचन–किसी प्यासे व्यक्ति के पास पानी का अन्य कोई साधन न हो तो वह पानी के लिए भूमि को खोदता है । भूमि को खोदते समय उसे श्रम भी होता है, उसके कपड़े भी गंदे होते हैं, शरीर भी गंदा होता है और खोदने के श्रम के कारण प्यास भी बढ़ती है, परंतु जमीन खोदने के बाद पानी निकल जाता है तो प्यास भी दूर हो जाती है, शरीर का मैल भी दूर हो जाता है और फिर शारीरिक थकावट भी दूर हो जाती है ।

बस, इसी न्याय से देशविरतिधर श्रावक जब निष्काम भाव से विधिपूर्वक जिनपूजा करता है तो उस द्रव्यपूजा के फलस्वरूप ऐसे पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध करता है कि उस पुण्योदय के फलस्वरूप जीवात्मा को मोक्षमार्ग संबंधी सभी अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होती है । उस सामग्री को प्राप्त कर वह संयम धर्म की आराधना-साधना कर सकता है । वह आराधना उसे यावत् मोक्षपद तक पहुँचाती है ।

विष और अमृत दोनों एक ही समंदर में हैं,
शंकर और कंकर दोनों एक ही कंदरे में है,
जमाना चुनाव है, चुनाव कर लो,
पशु और प्रभु दोनों तुम्हारे ही अंदर हैं ।

तित्थयरत्तं सम्मत्त खाइयं सत्तमीए तइयाए ।
वंदणएण विहिणा, बद्धं च दसारसीहेण ।।109।।

शब्दार्थ

तित्थयरत्तं–तीर्थंकरपना,
सम्मत्त–सम्यक्त्व,
खाइयं–क्षायिक,
सत्तमीए–सातवीं से,
तइयाए–तीसरी,
वंदणएण–वंदन से,
विहिणा–विधिपूर्वक,
बद्धं–बाँधा,
दसारसीहेण–कृष्ण ने

भावार्थ–विधिपूर्वक वंदन करने के फलस्वरूप श्रीकृष्ण महाराजा को तीर्थंकर नाम कर्म का बंध, क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति और चार नरक का नाश रूप तीन फायदे हुए ।

विवेचन–एक बार श्रीकृष्ण वासुदेव ने नेमिनाथ प्रभु के 18000 साधुओं को खूब आदर बहुमान पूर्वक वंदन किया । इस वंदन क्रिया के बाद वे एकदम थक गए ।

उन्होंने कहा, हे प्रभु ! 360 युद्ध करते हुए भी मुझे जिस थकावट का अनुभव नहीं हुआ, वैसी थकावट का अनुभव मुझे इस वंदन क्रिया द्वारा हुआ है ।

प्रभु ने कहा, तुम्हारी थकावट बढ़ी नहीं है किंतु इस भवभ्रमण की तुम्हारी थकावट दूर हो गई है । इस वंदन क्रिया के फलस्वरूप तुम्हें तीन महान् लाभ प्राप्त हुए हैं ।

कृष्ण ने कहा, कौनसे लाभ ?

प्रभु ने कहा–18000 साधुओं को सद्भावपूर्वक वंदन करने के फलस्वरूप तुमने तीर्थंकरनाम कर्म बाँधा है, जिस कर्म के उदय से तुम भविष्य में मेरे समान तीर्थंकर बनोगे-आगामी चौबीसी में 12 वें अमम नाम के तीर्थंकर बनकर हजारों आत्माओं को धर्म बोध देकर मोक्ष पद प्राप्त करोगे ।

इस वंदन क्रिया द्वारा तुमने क्षायिक सम्यक्त्व में बाधक दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है ।

इसके साथ ही भयंकर युद्ध द्वारा तुमने 7 वीं नरक के योग्य आयुष्य कर्म का बंध किया था । इस वंदन की साधना द्वारा तुमने चार नरकों के आयुष्य को कम कर दिया है, अतः सातवीं नरक के बदले तुम तीसरी नरक में जाओगे । इस प्रकार भावपूर्वक गुरुवंदन करने से श्रीकृष्ण महाराजा को ये तीन महान् लाभ प्राप्त हुए थे ।

अण थोवं वण थोवं, अग्गी थोवं कसाय थोवं च ।
न हु भे वीससिअव्वं, थोवं पि हु तं बहू होई ।।110।।

शब्दार्थ

अण थोवं–थोड़ासा ऋण,	**मे**–है,
वण थोवं–थोड़ा सा घाव,	**वीससिअव्वं**–विश्वास नहीं करना चाहिए,
अग्गी थोवं–थोड़ीसी आग,	**थोवं पि**–थोड़ा भी,
कसाय थोवं–थोड़ासा कषाय,	**तं**–वह,
न–नहीं,	**बहू होई**–बहुत होता है ।

भावार्थ–थोड़ा भी ऋण, थोड़ी भी आग और थोड़े भी कषाय का विश्वास नहीं करना चाहिए । वह भले ही दिखने में थोड़ा होता है, परंतु तुरंत ही बढ़ जाता है ।

विवेचन–अपनी आर्थिक स्थिति कमजोर हो और उस समय थोड़ासा भी कर्जा किया हो तो उस कर्जे को तुरंत ही चुकाने की कोशिश करनी चाहिए । कर्जा यदि तुरंत ही चुकाया नहीं गया तो उस कर्जे को बढ़ते देर नहीं लगती है । 5-6 वर्ष में तो वह कर्जा दुगुना हो जाता है और दूसरे पाँच वर्ष में चार गुणा हो जाता है । अतः ऋण अर्थात् कर्जे की थोड़ी भी उपेक्षा करने जैसी नहीं है ।

शरीर के किसी भाग में घाव पड़ गया हो तो उसका तुरंत ही उपचार हो जाना चाहिए-यदि उपचार नहीं किया जाएगा तो वह घाव धीरे धीरे बढ़ता जाएगा और आगे चलकर हाथ-पाँव को कटवाने की भी नौबत आ सकती है, अतः समझदारी इसी में है कि घाव होते ही तुरंत उसका उपचार कर लेना चाहिए ।

मकान या गोदाम में कहीं थोड़ी भी आग लग गई हो तो उसे तुरंत बुझा देना चाहिए । यदि उस आग को तुरंत बुझाया नहीं गया तो उस आग को बढ़ने में कहाँ देर लगती है । वह आग भडक जाएगी और सब को जलाकर खाक कर देगी । अतः थोड़ी भी आग की विश्वास करने जैसा नहीं है ।

ऋण, घाव और आग का विश्वास करने जैसा नहीं है, परंतु इन तीनों से भी ज्यादा खतरनाक है कषायों की आग ।

क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चारों कषाय खूब खतरनाक हैं । ये कषाय तो कसाई से भी ज्यादा खतरनाक हैं । कसाई तो पशुओं के द्रव्य प्राणों का नाश करते हैं जबकि ये कषाय आत्मा के भाव-प्राणों का नाश करते हैं ।

कषाय की आग को बढ़ते कहाँ देर लगती है ! बाहर की आग तो एक ही जीवन का नाश करती है जब कि कषायों की आग तो आत्मा के अनेक भवों को बिगाड़ देती है ।

लाखों वर्षों तक मासक्षमण के पारणे मासक्षमण करने वाले उग्र तपस्वी अग्निशर्मा ने क्रोधावेश में आकर अपने जीवन को नष्ट कर दिया । उसकी आत्मा अनंत संसारी बन गई ।

पुण्य के उदय से शारीरिक बल, श्रेष्ठ काया तथा तीक्ष्ण बुद्धि पैदा होती है, परंतु अभिमान के फलस्वरूप आत्मा अपना भयंकर पतन करती है ।

देह भक्त

स्नान, तेल, इत्र, धूप, दीप, चावल, मिठाई और फल
द्वारा देह की अष्टप्रकारी पूजा करनेवाले के पास
प्रभु की अष्टप्रकारी पूजा करने के लिए समय
का सर्वथा अभाव है । मात्र केसर से तिलक
लगाकर वह प्रभु-पूजा पूरी कर लेता है ।
उसे प्रभु भक्त कहें य देह भक्त ?
यही सवाल है ।

जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं भुज्जो कारणं अपूरंतो ।
तिविहेण पडिक्कंतो, तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ।।111।।
जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं चेव निसेवइ पुणो पावं ।
पच्चक्ख मुसावाइ, माया नियडिप्पसंगो अ ।।112।।

शब्दार्थ

जं–जो,
दुक्कडं–दुष्कृत को,
मिच्छा–मिथ्या,
तं–उसे,
भुज्जो–सेवन करता है,
कारणं–कारण,
अपूरंतो–नहीं जुटा कर,
तिविहेण–तीन प्रकार से,
पडिक्कंतो–प्रतिक्रमण करता हुआ,
तस्स–उसका,
खलु–वास्तव में,
दुक्कडं–दुष्कृत,
मिच्छा–मिथ्या ।
तं चेव–उसी को पुनः,
निसेवइ–सेवन करता है,
पुणो–पुनः,
पावं–पाप को,
पच्चक्ख–प्रत्यक्ष,
मुसावाइ–मृषावादी,
माया–कपट,
नियडिप्पसंगो–माया कपटी ।

भावार्थ–जो पाप को मिथ्या करता है, निंदा करता है और उसके कारणों को जुटाकर पुनः सेवन नहीं करता है, इस प्रकार मन, वचन और काया से पाप की आलोचना करने वाले का दुष्कृत वास्तव में मिथ्या कहलाता है ।

जो पाप को मिथ्या करता है और पाप के उन्हीं कारणों का पुनः सेवन करता है, वह प्रत्यक्ष मृषावादी है और माया-कपट करने वाला है ।

विवेचन–जब तक आत्मा मोह व अज्ञान के अधीन है, तब तक जीवन में भूलें होने की संभावना रहती है । जो वीतराग है वह कभी भूल नहीं करता है, परंतु जो छद्मस्थ है, उसके जीवन में तो कदम कदम पर भूलें होने की संभावना रहती है ।

भूल हो जाने के बाद उस भूल को सुधारने का एक ही उपाय है, उस भूल को हृदय से स्वीकार करना और जीवन में पुनः वह भूल न हो जाय उसके लिए जागृत रहना। भूल हो जाने के बाद जो सच्चे दिल से अपनी भूल का **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** देता है तो भूलजन्य पाप भी मिथ्या हो जाता है, परंतु जो व्यक्ति जानबूझकर भूल करता है अथवा भूल हो जाने के बाद उस भूल का **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** नहीं देता है या दंभ से **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** देता है ऐसे व्यक्ति के **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** का कोई अर्थ नहीं है। ऐसा व्यक्ति नवीन पाप कर्म का ही बंध करता है।

पाप करने के बाद जिसके दिल में तीव्र पश्चात्ताप होता है। अपनी गलती के लिए खूब अफसोस होता है उसे नवीन पाप का भी बंध नहीं होता है।

आधुनिक मानव

सिंह घास नहीं खाता है, गाय मांस नहीं खाती है,
कबूतर रात्रि में नहीं खाता है, परंतु आज का मानव
घास (अनाज), मांस और रात्रि भोजन-सब कुछ करता है।
पशु जीवन में मर्यादा है, मनुष्य जीवन में नहीं,
फिर भी वह अपने बुद्धिशाली समझता है।
क्या कहना उस मानव को।

मित्ति मिउ मद्दवत्ते, छ त्ती दोसाण छायणे होइ ।
मित्ति अ मेराइ ठिओ, दुत्ति दुगंछामि अप्पाणं ।।113।।
कत्ति कडं मे पावं उत्ति, य डेवेमि तं उवसमेण ।
एसो मिच्छामि दुक्कडं, पयक्खरो समासेण ।।114।।

शब्दार्थ

मित्ति–मि अर्थात्,
मद्दवत्ते–मार्दवता,
छ त्ती–छ अर्थात्,
दोसाण छायणे–दोषों को छादन करना,
होइ–होती है,
मेराइ ठिओ–मर्यादा में रहा,
दुत्ति–दु अर्थात्,
दुगंछामि–निंदा करता हूँ,
अप्पाणं–आत्मा की ।
कत्ति–क अर्थात्,
कडं–किया हुआ,
मे–मेरा,
पावं–पाप,
उत्थो–अर्थ
डत्ति–ड अर्थात्,
डेवेमि–उल्लंघन करते हैं,
तं–उसका,
उवसमेण–उपशम भाव से,
एसो–यह
मिच्छामि दुक्कडं–मिथ्या दृष्कृत,
पयक्खर–पद के अक्षर,
समासेण–संक्षेप से,

भावार्थ–मिच्छा मि दुक्कडं-पद के छह अक्षरों का संक्षेप में इस प्रकार अर्थ होता है–

'मि' अर्थात् मृदुता-काया से नम्र और भाव से लघु होना

च्छा अर्थात् लगे हुए दोषों को छादन करने के लिए

मि अर्थात् मर्यादा में चारित्राचार में पुनः स्थिर होकर

दु अर्थात् पाप वाली आत्मा की निंदा करके

क्क अर्थात् किया हुआ पाप

ड अर्थात् उपशम द्वारा उस पाप से दूर होता हूँ ।

विवेचन–किए हुए पाप के फल को निष्फल बनाने के लिए जो **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** दिया जाता है उसके प्रत्येक अक्षर में गंभीर रहस्य रहा हुआ है ।

सर्व प्रथम तो **'मिच्छा मि दुक्कडम्'** यह पद बोलते समय द्रव्य और भाव दोनों से मृदु अर्थात् कोमल बनने का है । द्रव्य से कोमल अर्थात् काया से नम्र बनना अर्थात् काया को झुकाना । भाव से कोमल बनना अर्थात् मन में लघुता का भाव पैदा करना । मैं कुछ नहीं हूँ । I am nothing के भाव से अपनी आत्मा को भावित करना चाहिए ।

च्छा अर्थात् लगे हुए दोषों का नाश करने के लिए । मि अर्थात् मैंने अज्ञानतावश चारित्राचार का जो भंग किया था, उस चारित्राचार में पुनः स्थिर होने के लिए प्रयत्न करता हूँ । **दु** अर्थात् मेरे द्वारा किए हुए पापों की **निंदा पूर्वक ।**

क अर्थात् किए हुए पाप से

ड अर्थात् उपशम भाव द्वारा उस पाप को पुनः दूसरी बार नहीं करने का संकल्प करता हूँ ।

ब्रह्मचर्य

मासक्षमण आदि बाह्यतप करना आसान है,
परंतु ब्रह्मचर्य का पालन
करना अत्यंत कठिन है ।
तप भी शील के पालन
पूर्वक होता है, तब उसका बल
बढ़ जाता है ।

नामं ठवणातित्थं, दव्वं तित्थं च भावतित्थं च ।
इक्किक्कंमि य इत्तो ऽणेगविहं होइ नायव्वं ।।115।।

शब्दार्थ

नामं–नाम,	**इत्तो**–इतना,
ठवणातित्थं–स्थापना तीर्थ,	**अणेगविहं**–अनेक प्रकार के,
दव्वं–द्रव्य,	**होइ**–होते हैं,
भावतित्थं–भाव तीर्थ,	**नायव्वं**–जानना चाहिए ।
इक्किक्कंमि–एक एक में,	

भावार्थ–तीर्थ के चार भेद हैं नामतीर्थ, स्थापना तीर्थ, द्रव्य तीर्थ और भावतीर्थ । ये प्रत्येक भी अनेक प्रकार के होते हैं ।

विवेचन–जैन दर्शन में किसी भी वस्तु को समझने के लिए उसके चार निक्षेप बताए हैं-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ।

किसी वस्तु में उसके नाम के अनुरूप गुण या स्वरूप न हो तो भी उस वस्तु का वह नाम रखा जा सकता है अर्थात् किसी व्यक्ति का नाम गुणसंपन्न भी हो सकता है और गुणहीन भी ।

प्रशांत नाम हो फिर भी उस व्यक्ति को गुस्सा ज्यादा आता हो । नाम लक्ष्मीचंद हो फिर भी गरीब हो सकता है । नाम रुपचंद हो फिर भी कुरुप हो सकता है । जीवन में शांति का अंश भी न हो फिर भी शांतिलाल नाम हो सकता है । हर जगह हार खाता हो फिर भी `जीत'मल नाम हो सकता है ।

किसी भी वस्तु या व्यक्ति का आकार किसी कागज पर, पत्थर पर या कपड़े आदि पर चित्रित करना अथवा पत्थर आदि का model बनाना ।

जैसे-किसी भी व्यक्ति की मूर्ति या फोटो हो तो उसे स्थापना कहते हैं ।

किसी भी व्यक्ति या वस्तु की भूत-भावी अवस्था को `द्रव्य' कहते हैं ।

किसी भी व्यक्ति या वस्तु के वास्तविक स्वरूप को `भाव' निक्षेप कहते हैं ।

दाहोवसमं तन्हाइ, छेयणं मल विवाहणं चेव ।
तिहिं अत्थेहिं निउत्तं, तम्हा तं दव्वओ तित्थं ।।116।।
कोहंमि उ निग्गहिए, दाहस्स उवसमणं हवइ तित्थं ।
लोहंपि उ निग्गहिए, तन्हाए छेयणं होइ ।।117।।
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिं भवेहिं संचियं जम्हा ।
तव संजमेण धोवइ, तम्हा तं भावओ तित्थं ।।118।।

शब्दार्थ

दाहोवसमं–दाह का उपशमन, **तन्हाइ छेयणं**–तृष्णा का छेदना, **मल विवाहणं**–मल को दूर करना, **चेव**–तथा, **तिहिं**–तीन,	**अत्थेहिं**–उद्देश्य से, **निउत्तं**–नियुक्त, **तं**–वह, **दव्वओ**–द्रव्य से, **तित्थं**–तीर्थ ।
कोहंमि–क्रोध, **निग्गहिए**–निग्रह करने पर, **दाहस्स**–दाह का, **उवसमणं**–उवसमणं, **हवइ**–होता है, **तित्थं**–तीर्थ,	**लोहंपि**–लोभ का, **निग्गहिए**–निग्रह होने पर, **तन्हाए**–तृष्णा का, **छेयणं**–छेदन, **होइ**–होता है ।
अट्ठविहं–आठ प्रकार की, **कम्मरयं**–कर्म रूपी धूल, **बहुएहिं**–बहुत से, **भवेहिं**–भवों से, **संचियं**–संचित **जम्हा**–जिस कारण से,	**तव संजमेण**–तप संयम से, **धोवइ**–धोता है, **तम्हा**–उस कारण से, **तं**–वह, **भावओ**–भाव से, **तित्थं**–तीर्थ ।

भावार्थ–दाह को शांत करने के लिए, प्यास को दूर करने के लिए और मल को साफ करने के लिए इन तीन कारणों से जो नियुक्त किया जाता है, वह द्रव्य तीर्थ है ।

क्रोध का निग्रह होने पर भीतरी दाह का उपशमन होता है, लोभ का उपशमन होने पर भीतरी तृष्णा दुर होती है तथा बहुत से भवों में संचित आठ-प्रकार के कर्ममल को तप और संयम से धोया जाता है, इस कारण वह भाव तीर्थ कहलाता है ।

विवेचन–उपर्युक्त तीन गाथाओं में ग्रंथकार महर्षि ने द्रव्य और भावतीर्थ का सुंदर निरूपण किया है ।

जल से भरी नदी के किनारे को द्रव्य तीर्थ कहते है । नदी के जल में तीन विशेषताएं रही होती है । नदी के जल में स्नान करने से शरीर में रहा दाह अर्थात् शरीर की गर्मी दूर हो जाती है । शरीर में शीतलता का अनुभव होता है ।

जल से प्यास बुझ जाती है । प्यास के कारण आदमी परेशान हुआ हो, परंतु ज्यों ज्यों जलपान करता हैं, त्यों त्यों प्यास बुझती जाती है ।

नदी के जल से शरीर पर लगा मैल भी दूर हो जाता है । जल से शरीर भी स्वच्छ हो जाता है । इस प्रकार द्रव्य तीर्थ का आलंबन शरीर को लाभकारी बनता है । द्रव्य तीर्थ का स्वरूप समझाकर अब भाव तीर्थ की महिमा समझाते है ।

भाव तीर्थ का आलंबन लेनेवाले जीव में रही क्रोध के आग की गर्मी शांत हो जाती है । क्रोध को आग की उपमा दी गई है । जो हमारी साधना को जलाकर खाक कर देता है । भाव तीर्थ का आलंबन लेनेवाली आत्मा क्रोध के दाह से मुक्त होकर परम शीतलता अनुभव करती है ।

भाव तीर्थ का आलंबन लेने से लोभ की प्यास दूर हो जाती है । जीवन में परम संतोष भाव पैदा होता है । बाह्य पदार्थों को पाने के लालसाएँ दूर हो जाती है ।

तप और संयम को भाव तीर्थ कहा गया है, उसका आलंबन लेने से आत्मा कर्म-मैल से मुक्त हो जाती है । आत्मा पर लगा हुआ कर्म का मैल आत्मा को मलिन बनाता है । मलिन बनी आत्मा संसार में भटकती है । कर्म के मैल से मुक्त बनी आत्मा कर्म के बंधन से मुक्त हो जाती है ।

दंसण नाण चरित्ते, सुनिउत्तं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
एएण होइ तित्थं, एसो अन्नोवि पज्जाओ ।।119।।

शब्दार्थ

दंसण–दर्शन,	**एएण**–इससे,
नाण–ज्ञान,	**होइ**–होता है,
चरित्ते–चारित्र,	**तित्थं**–तीर्थ,
सुनिउत्तं–सुनियुक्त,	**एसो**–यह,
जिणवरेहिं–जिनेश्वर द्वारा,	**अन्नोवि**–अन्य भी,
सव्वेहिं–सभी,	**पज्जाओ**–पर्याय ।

भावार्थ–सभी जिनेश्वर भगवंतों ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र में तीर्थ स्थापित किया है, अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी तीर्थ का ही दूसरा पर्याय है ।

विवेचन–तारक तीर्थंकर परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद धर्मशासन अर्थात् तीर्थ की स्थापना करते है ।

तीर्थ अर्थात् जो आत्मा को भव सागर से पार उतारे !

गणधर भगवंत, द्वादशांगी और चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा गया है-उसी प्ररकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र को भी भाव तीर्थ कहा गया है ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के ही मूल गुण हैं, उन गुणों की प्राप्ति से आत्मा भव सागर से पार उतर जाती है ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति में आलंबन भूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सामग्री भी द्रव्य तीर्थ है ।

जिन मंदिर, जिन प्रतिमा, तीर्थ भूमियां, कल्याणक भूमियाँ आदि के आलंबन से अपना सम्यग्दर्शन निर्मल होता है । प्रवचन-श्रेणी, स्वाध्याय, वाचना, शास्त्राभ्यास आदि से अपनी आत्मा में ज्ञान गुण की पुष्टि होती है ।

रजोहरण, चरवला, कटासना, संथारा, पात्रे आदि चारित्र के उपकरण है, उन उपकरणों का समुचित उपयोग हमारी आत्मा के चारित्र, गुण को पुष्ट करता है । देव-दुर्लभ ऐसे मानव भव में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति व पुष्टि के लिए अपना प्रयत्न-पुरुषार्थ होना चाहिए । सभी प्रकार की आराधनाएं व अनुष्ठान भी तभी सफल व सार्थक हैं कि उनसे हमारे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की पुष्टि होती है ।

सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु गुणेसु अ, निमित्तमित्तं परो होइ ।।120।।

शब्दार्थ

सव्वो–सभी,	**अवराहेसु**–अपराध में.
पुव्वकयाणं–पहले किए हुए,	**गुणेसु**–गुणों में,
कम्माणं–कर्मों का,	**निमित्तमित्तं**–निमित्त मात्र,
पावए–प्राप्त करता है,	**परो**–दूसरा,
फलविवागं–फल-विपाक,	**होइ**–होता है ।

भावार्थ–संसार में सभी जीव पूर्व में किए हुए कर्मों का फल प्राप्त करते हैं । अपराध और गुण में दूसरा जीव तो सिर्फ निमित्त मात्र होता है ।

विवेचन–इस संसार में सभी जीव कर्म के अधीन हैं अर्थात् अपने जीवन में जो भी सुख-दुःख प्राप्त करते हैं उसमें मुख्य कारण जीव का कर्म ही है ।

अपने जीवन में जो भी अच्छा या बुरा होता है उसमें दूसरा जीव तो सिर्फ निमित्त मात्र होता है ।

संसारी जीव की यह विचित्रता है कि वह अपने सुख-दुःख में निमित्त बनने वाले को मुख्य मान लेता है । इसके फलस्वरूप जिस जीव से सुख की प्राप्ति होती है, उसे अपना हितैषी मान लेता है, उसके साथ अच्छा व्यवहार करता है और जिस जीव से दुःख मिलता है, उसे वह अपना दुश्मन मान लेता है ।

जीवात्मा की यही सबसे बड़ी भूल होती है । अपने दुःख में निमित्त बनने वाले को वह अपना दुश्मन मान लेता है और अवसर आने पर उसका बदला लेने के लिए भी तैयार हो जाता है ।

वास्तव में इस संसार में अपना बुरा करने वाला कोई नहीं है । अपना जो बुरा हो रहा है, उसमें प्रधानता तो अपने ही अशुभ कर्म के उदय की है ।

निमित्त पर दोषारोपण करने से निमित्त बनने वाले व्यक्ति के मन में दुर्भाव पैदा होता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा नए कर्मों का ही बंध करती है ।

धारिज्जइ इत्तो जलनिहीवि, कल्लोलभिन्न कुलसेलो ।
न हु अन्न जम्म निम्मिय, सुहासुहो कम्म परिणामो।।121।।
अकयं को परिभुंजइ, सकयं नासिज्जकस्स किर कम्मं ।
सकयमणुभुंजमाणो, कीस जणो दुम्मणो होइ ।।122।।

शब्दार्थ

धारिज्जइ–धारण किया जाता है,
इत्तो–ऐसे,
जलनिहीवि–सागर भी,
कल्लोल–तरंगें,
भिन्न–भेदा हुआ,
कुलसेलो–पर्वत,
न हु–परंतु नहीं,
अन्न जम्म–अन्य जन्म में,
निम्मिय–निर्मित,
सुहासुहो–शुभ-अशुभ,
कम्म परिणामो–कर्म परिणाम ।
अकयं–नहीं किया हुआ,
को–कौन,
परिभुंजइ–भोगता है,
सकयं–स्वकृत,
नासिज्ज–नाश होता है,
कस्स–किसका,
किर–वास्तव में,
कम्मं–कर्म,
सकय–स्वकृत,
अणुभुंजमाणो–भोगता हुआ,
कीस–किसका,
जणो–जन,
दुम्मणो–दुःखी,
होइ–होता है ।

भावार्थ–अपनी विशाल जल तरंगों से किनारे रहे पर्वत को भी जिसने भेद दिया हो, ऐसे सामने से आते हुए समुद्र को रोक सकता हो, परंतु अन्य जन्म में किए हुए शुभ-अशुभ कर्म के फल को कोई रोक नहीं सकता हैं ।

स्वयं नहीं किए कर्मों को कौन भोगता है ? स्वयं किये हुए कर्म भोगे बिना किसके नष्ट होते हैं ? तो फिर अपने कर्मफल को भोगते समय प्राणी क्यों दुःखी होता है ?

विवेचन–कर्म की गति बड़ी विचित्र है । कर्म बाँधे हैं तो उनके शुभ-अशुभ कर्म के फल को भोगना ही पड़ता है । कोई व्यक्ति चाहे जितना शक्तिशाली या लब्धिधारी क्यों न हो, अपनी शक्ति के बल से बड़े-बड़े पर्वत

को भी भेदने वाले बड़े-बड़े समुद्र को स्तंभित कर दे, परंतु जन्म-जन्मांतर में बँधे हुए कर्मों की सजा में से व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता है ।

चाहे चक्रवर्ती हो, चाहे इन्द्र हो, चाहे तीर्थंकर की आत्मा भी क्यों न हो, उनको भी अपने किए हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना ही पड़ता है ।

भगवान महावीर ने त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में शय्यापालक के कान में गर्मागर्म सीसे का रस डलवाया था । उस कर्म की सजा उन्हें अपने अंतिम भव में भी भुगतनी पड़ी थी ।

गए जन्म में यदि शुभ कर्म बाँधे हैं तो उन कर्मों के फलस्वरूप सुख या शुभ फल मिलने ही वाला है और गए जन्म में अशुभ कर्म बाँधे हैं तो उन कर्मों के उदय से जीवन में दुःख आने ही वाला है ।

अपने किए हुए कर्मफल को बदलने की ताकत किसी में भी नहीं है ।

अतः हे आत्मन् ! इस जीवन में यदि कोई दुःख आया है तो उसे अपने पूर्व भव के अशुभ कर्म का फल मानकर हँसते मुँह स्वीकार लेना चाहिए । आए हुए उन दुःखों में आर्त्तध्यान करने से क्या फायदा !

अशुभ कर्म के उदय से आए हुए दुःख को तू समता पूर्वक सहन कर लेगा तो शीघ्र ही उस कर्म से मुक्त हो जाएगा और उन कर्मों के उदय में तू आर्तध्यान-रौद्रध्यान करेगा तो इतने मात्र से उन कर्मों की सजा तो घटने वाली नहीं है बल्कि आर्तध्यान-रौद्रध्यान द्वारा नए कर्मों का उपार्जन हो जाने से तेरा भावी और दुःखमय बन जाएगा । इस प्रकार करने से तू कभी भी दुःख में से मुक्त नहीं हो पाएगा ।

धन पुण्य से मिलता है, केवल श्रम से नहीं !
श्रम करने पर भी पुण्य का
उदय हो तो ही धन मिलता है,
अन्यथा नहीं !

पोसेइ सुहे भावे असुहाइं खवेइ नत्थि संदेहो ।
छिंदइ नरयतिरिगई, पोसहविहि-अप्पमत्तो ।।123।।

शब्दार्थ

पोसेइ–पोषण करता है,	**संदेहो**–शंका,
सुहे भावे–शुभ भाव,	**छिंदइ**–छेद करता है,
असुहाइं–अशुभ,	**नरयतिरिगई**–नरक-तिर्यंचगति,
खवेइ–क्षय करता है,	**पोसहविहि**–पौषध विधि,
नत्थि–नहीं,	**अप्पमत्तो**–प्रमाद रहित ।

भावार्थ–पौषध विधि में अप्रमत्त श्रावक शुभ भावों की पुष्टि करता है । अशुभ कर्मों का क्षय करता है । नरक व तिर्यंचगति का छेद करता है ।

विवेचन–औषध सेवन से रोग का नाश होता है और आरोग्य की पुष्टि होती है उसी प्रकार पौषध से आत्मा पर लगे कर्मरोग का नाश होता है और आत्मा के भाव आरोग्य की पुष्टि होती है ।

पौषध में रहा श्रावक सामायिक से युक्त होता है अतः साधुवत् कहलाता है । साधु जीवन में पुण्यबंध की क्रियाएँ गौण होती हैं और कर्म-निर्जरा प्रधान क्रियाएँ अधिक होती हैं । श्रावक जीवन में निर्जरा प्रधान क्रियाएँ कम होती हैं ।

पौषध श्रावक जीवन की निर्जरा प्रधान क्रिया है परंतु गौण रूप में पुण्य का भी बंध होता है ।

एक सामायिक द्वारा श्रावक 925925925 पल्योपम से भी अधिक देव आयुष्य का बंध करता है तो आठ प्रहर के (एक दिन-रात) पौषध द्वारा श्रावक सामायिक से 30 गुणा अर्थात् 27 अरब 77 करोड़ 77 लाख 77 हजार 777 पल्योपम से कुछ अधिक (7/9 पल्योपम अधिक) देव आयुष्य का बंध करता है ।

देवलोक में रहे सम्यग्दृष्टि देवता भी इस प्रकार की इच्छा करते हैं कि हमें सामायिक के लिए एक प्रहर जितना समय मिल जाय तो भी हमारा जन्म सफल हो जाय ।

जिस प्रकार साधुजीवन का प्राण पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन है उसी प्रकार पौषध में रहे श्रावक को भी पाँच समिति और तीन गुप्ति के पालन में सतत उद्यमशील रहना है ।

पौषध में कुछ भी वस्तु लेनी हो या रखनी हो तो उसके पूर्व, दृष्टि से बराबर निरीक्षण करना चाहिए और फिर रजोहरण आदि से उसका प्रमार्जन करना चाहिए ।

पौषध में रहा श्रावक देशविरतिधर कहलाता है । सम्यक्त्व की उपस्थिति में आयुष्य का बंध हो तो मनुष्य को देव आयुष्य का ही बंध होता है, नरक व तिर्यंच गति के द्वार बंद हो जाते हैं । अतः पौषधव्रत धारी के दुर्गति के द्वार बंद हो जाते हैं ।

वैर का नाश

जहर को जहर से खत्म किये जा सकता है ।
काँटे से काँटे को निकाला जा सकता है ।
परंतु मन के भीतर रही वैर की वासना को
वैर भाव से खत्म नहीं कर सकते हैं,
उसके लिए तो चाहिए मैत्री भाव का मधुर जल ।
मैत्री भाव ही हमारे भीतर रही
वैर की वासना को निर्मूल कर सकता है ।

धन्नाणं विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना ।
विहिबहुमाणा धन्ना, विहिपक्ख अदूसगा धन्ना ।।124।।

शब्दार्थ

धन्नाणं–धन्य पुरुषों को,
विहिजोगा–विधि का योग,
विहिपक्खाराहगा–विधिपक्ष आराधक,
धन्ना–धन्यवाद के पात्र,
विहिबहुमाणा–विधि का बहुमान,
धन्ना–धन्यवाद के पात्र,
विहिपक्ख अदूसगा–विधि पक्ष को दूषित नहीं करने वाले,
धन्ना–धन्यवाद के पात्र ।

भावार्थ–***धन्य पुरुषों को ही विधि का योग प्राप्त होता है । विधि पक्ष की आराधना करने वाले धन्यवाद के पात्र हैं । विधि मार्ग पर बहुमानभाव रखने वाले भी धन्यवाद के पात्र हैं तथा विधिमार्ग को दूषित नहीं करने वाले भी धन्यवाद के पात्र हैं ।***

विवेचन–परमात्मा की आज्ञा का योग धन्य पुरुषों को ही प्राप्त होता है । प्रभु की आज्ञा की आराधना ही मोक्ष का श्रेष्ठ उपाय है । इस आज्ञा धर्म की आराधना करने का पुण्य अवसर हर किसी आत्मा को प्राप्त नहीं होता है । निकट मोक्षगामी आत्माओं को ही इस आज्ञायोग की प्राप्ति होती है ।

विधिमार्ग का पालन करने वाले भी धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि इस विधि मार्ग के पालन द्वारा विशेष योग्यता व पात्रता हो तो उसी भव में मोक्ष में चले जाते हैं । कदाचित् इतनी योग्यता न हो तो वे दूसरे-तीसरे भव मे मोक्ष में जाते हैं । अतः मोक्षमार्ग की आराधना-साधना करने वाले सभी धन्यवाद के पात्र हैं । विधिमार्ग के पालन का सामर्थ्य न हो फिर भी विधिमार्ग के प्रति जिनके हृदय में आदर बहुमान भाव रहा हुआ है वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।

प्रभु मिलने के बाद चंडकौशिक ने
अपना मुँह बिल में डाल दिया !
पहले बहिर्मुख था,
अब अंतर्मुख बन गया ।

संवेगमणो संबोह, सत्तरिं जो पढेइ भव्वजीवो ।
सिरि जयसेहर ठाणं, सो लहइ नत्थि संदेहो ।।125।।

शब्दार्थ

संवेगमणो–संवेगमन वाला,	**जयसेहर ठाणं**–जयशेखर स्थान,
संबोह सत्तरिं–संबोध सप्ततिका को,	**सो**–वह,
जो–वह,	**लहइ**–प्राप्त करता है,
पढेइ–पढ़ता है,	**नत्थि**–नहीं है,
भव्वजीवो–भव्य जीव, **सिरि**–श्री,	**संदेहो**–शंका ।

भावार्थ–जिसका मन संवेग भाव से रंगा हुआ है ऐसा भव्य जीव इस संबोध सप्ततिका को पढ़ता है तो वह भव्य जीव जयशेखर अर्थात् जहाँ संपूर्ण जय है ऐसे मोक्ष रूपी स्थान को प्राप्त करता है ।

(जयशेखर पद से कर्ता ने अपने उपकारी गुरुदेव का नामस्मरण किया है ।)

विवेचन–पूर्वाचार्य विरचित वैराग्य पोषक ग्रंथों को पढ़ने का अधिकार एक मात्र योग्य भव्य जीवों को ही है, क्योंकि योग्यता के अभाव में अच्छी वस्तु भी लाभ का कारण नहीं बनती है ।

घी खाने से शरीर को पोषण मिलता हैं परंतु हॉर्ट का दर्दी या तीव्र बुखारवाला व्यक्ति घी खाए तो लाभ के बदले नुकसान ही होता है । साँप को दूध पिलाने से वह दूध भी जहर में ही रुपांतरिक होता है ।

आचार्य श्री रत्नशेखरसूरिजी द्वारा विरचित संबोध सप्ततिका (संबोध सत्तरि) ग्रंथ अमूल्य है । जो कोई योग्य आत्मा इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर उसके पदार्थों को जीवन में आत्मसात् करेगा वह आत्मा इस भव बंधन से मुक्त होकर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त करेगी, इसमें लेश भी संदेह को स्थान नहीं है ।

प्रशस्ति

पूज्य आचार्य श्री **रत्नशेखरसूरिजी** द्वारा प्राकृत भाषा में विरचित **संबोह-सित्तरि** ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** ने नासिक में कार्तिक पूर्णिमा वि.सं. 2072 के दिन पूर्ण किया ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न,
पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.
द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 236 पुस्तकों में से
उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	36.	कर्मग्रंथ (भाग-1)	160/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	37.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	38.	गणधर-संवाद	80/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	39.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	40.	नवपद आराधना	80/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	41.	संस्मरण	50/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	42.	भव आलोचना	10/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	43.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
9.	विविध-तपमाला	100/-	44.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
10.	विवेकी बनो	90/-	45.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
11.	प्रवचन-वर्षा	60/-	46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
12.	आओ श्रावक बनें !	25/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
13.	व्यसन-मुक्ति	100/-	48.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
14.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	49.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
15.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	50.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
16.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	51.	नमस्कार मीमांसा	150/-
17.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	52.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
18.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	53.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
19.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
20.	समाधि मृत्यु	80/-	55.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
21.	Pearls of Preaching	60/-	56.	वैराग्य-वाणी	140/-
22.	New Message for a New Day	600/-	57.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
23.	Celibacy	70/-	58.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
24.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	59.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
25.	अमृत रस का प्याला	300/-	60.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
26.	ध्यान साधना	40/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
27.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-	62.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
28.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-	63.	जीवन झांकी	अमूल्य
29.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	64.	मन के जीते जीत है	80/-
30.	प्रेरक-प्रवचन	80/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
31.	जीव विचार विवेचन	100/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
32.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	67.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
33.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	68.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
34.	लघु संग्रहणी	140/-	69.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
35.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-	70.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299